आचार्य
महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव-अजीव

पचीस बोलों का विवेचन

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक :
मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन'
डॉ० जेठमल भंसाली

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं–३४१३०६ (राज०)

जीवन के **82** वर्ष **247** वें दिन (**16 फरवरी सन्** 2003) में प्रवेश कर **आचार्य महाप्रज्ञ** द्वारा इतिहास दुलर्भ पृष्ठ सृजन के अवसर पर दीर्घ आयुष्य की मंगलकामनाओं सहित
बुद्धमल सुरेन्द्र कुमार दुग्गड. रतनगढ़-कोलकाता

ISBN 81-7195-051-5

सस्करण : 2003

प्रतियां : २२००

मूल्य : २५/-

मुद्रक : सन्मति सर्विसेज, नवीन शाहदरा, दिल्ली–32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

पढमं नाणं तओ दया--जैन दर्शन का यह समन्वयात्मक सिद्धांत है। ज्ञान के बिना आचरण शक्य नहीं और आचरण के बिना ज्ञान की सार्थकता नहीं है। इसलिए ज्ञान और आचरण--दोनों का समन्वय आवश्यक है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान का तात्पर्य है मोक्ष और उसके साधन--संयम, अहिंसा आदि का ज्ञान। उसके लिए अनिवार्य है जीव और अजीव का ज्ञान। भगवान् महावीर ने कहा--

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं।।

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जान सकता है?

इसलिए अहिंसक मनुष्य के लिए, अहिंसा की साधना में जीव व अजीव का ज्ञान होना अनिवार्य है। इनका विवेचन जैन दर्शन में विशद रूप से उपलब्ध है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से इनका प्रतिपादन किया गया है।

पचीस बोल नामक यह छोटा सा थोकड़ा (स्तोक कृत) है। इसमें पचीस-बोल पचीस वाक्यों का समुदाय है। संग्रहकर्त्ता ने जीव-अजीव का विश्लेषण सरल एवं वैज्ञानिक ढंग से किया है। पचीस बोलों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है--

१. जीव की उत्पत्ति के चार प्रमुख स्थानों का निर्देश।
२. इन्द्रियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण।
३. स्थावर और त्रस जीवों का स्वरूप-विवरण
४. इन्द्रियां और उनके उप-विभाग।
५. छह पौद्गलिक शक्तियों (पर्याप्तियों) का स्वरूप और कार्य।
६. दस जीवन-शक्तियों (प्राणों) का स्वरूप और कार्य। पर्याप्ति और प्राण का सम्बन्ध। आयुष्य प्राण का विशद विवेचन।
७. पांच प्रकार के शरीर और उनका स्वरूप।
८. मनोयोग, वचनयोग और काययोग का विशद विवरण।
९. पांच प्रकार के ज्ञान, तीन प्रकार के अज्ञान और चार प्रकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन (सामान्य बोध) का विशद विवेचन।

१०. आठ प्रकार के कर्म, उनकी निष्पत्तियां, उनका स्वरूप-वर्णन और कर्मबन्ध के विविध हेतुओं का उल्लेख।

- कर्म की दस मुख्य अवस्थाओं का विवरण।
- आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की विशद जानकारी।
- कार्य-निष्पत्ति के पांच कारणों का उल्लेख।

११. आत्म-विकास की चौदह भूमिकाओं (गुणस्थानों) का विवरण और उनके अधिकारियों की चर्चा। गुणस्थानों का कालमान आदि।

१२. इन्द्रियों के विषय और उनका स्वरूप।

१३. दस प्रकार का मिथ्यात्व।

१४. नौ तत्त्व और उनके भेद-प्रभेद। मोक्ष के चार साधक-तत्त्वों का विश्लेषण।

१५. आत्मा के अस्तित्व के साधक-बाधक प्रमाण । आत्मा अमूर्त है, फिर पदार्थ कैसे? आत्मा का परिमाण आदि-आदि।

१६. चौबीस दण्डकों (कर्म-फल भोगने के स्थानों) का निर्देश और भेद-प्रभेद।

१७. छह लेश्याएं और उनके लक्षण।

१८. तीन प्रकार की दृष्टियों का विवेचन।

- सम्यक्त्व के लक्षण, दूषण और भूषण।

१९. चार प्रकार के ध्यान का विवरण।

२०. विश्व के घटक छह द्रव्यों का विवेचन।

- काल-विभाग, पुद्गल द्रव्य की विभिन्न अवस्थाएं और उनका स्वरूप।

२१. दो राशि—जीव और अजीव का वर्णन।

२२. श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप और उनकी धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से उपयोगिता।

२३. पांच महाव्रतों का स्वरूप।

२४. त्याग के विभिन्न प्रकारों का वर्णन, त्याग करने के विविध पथ।

२५. पांच प्रकार के चारित्र और उनका स्वरूप-वर्णन।

इस प्रकार पचीस बोलों में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र का ही निरूपण है। उनके परिपार्श्व में उनके साधक-बाधक तत्त्वों का मैंने विस्तार किया है।

वि० सं० २००२ में आचार्यश्री का चतुर्मास श्रीडूंगरगढ़ में था। जीव-अजीव का यह विवेचन तैयार था। डॉ० जेठमलजी भंसाली तथा उनके अनेक सहयोगी व्यक्तियों ने इसे धारा और सम्पादन जेठमलजी भंसाली ने किया। इसका प्रथम संस्करण श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, श्रीडूंगरगढ़ से प्रकाशित हुआ। सभी इससे लाभान्वित हुए। इसका दूसरा संस्करण जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ने प्रकाशित किया । मुनि सुदर्शन ने इसे अद्योपांत पढ़कर पुनः संपादित किया । तदन्तर धार्मिक परीक्षा में इसका समावेश हुआ और हजारों छात्र-छात्राओं ने इसके माध्यम से जैनधर्म के मूलभूत तथ्यों को समझा। वर्तमान में जैन विश्व भारती इसका प्रकाशन कर रही है।

राणावास
२ अक्टूबर, १९८२

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जीव-अजीव का शाश्वत अस्तित्व ही लोक के स्वरूप का आधार है। दर्शन के समग्र ज्ञान के लिए आवश्यक है जीव-अजीव के भेद की समुचित जानकारी एवं विवेचना। जैन दर्शन जीव-अजीव, मोक्ष, कर्म आदि की स्थिति से सम्पृक्त है एवं इन्हीं के इर्द गिर्द इसका ताना-बाना बना हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक की संरचना महान् दार्शनिक आचार्य महाप्रज्ञ के द्वारा दर्शन-ज्ञान के पिपासुओं के लिए एक अवदान स्वरूप है। जैन विद्या के छात्र-छात्राओं के लिए यह प्रकाशन जैन दर्शन के अध्ययन की कुंजी का कार्य सम्पादित करता है।

प्रकाशन में प्रयुक्त सामग्री एवं अन्यान्य मुद्रण-व्यय में असाधारण वृद्धि के बावजूद छात्रों पर अधिक अर्थ भार नहीं पड़े, इस दृष्टि से केवल अल्पानुपातिक मूल्य-वृद्धि की गई है।

जैन विश्व भारती संस्थान इस कृति के ग्यारहवें संस्करण को प्रस्तुत कर अपने आप में गौरव की अनुभूति करता है।

जैन विश्व भारती, लाडनूं
जनवरी, १९९५

ताराचंद रामपुरिया
मंत्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

पहला बोल--गति चार	१
दूसरा बोल--जाति पांच	६
तीसरा बोल--काय छह	६
चौथा बोल--इंद्रिय पांच	१४
पांचवां बोल--पर्याप्ति छह	१८
छठा बोल--प्राण दस	२२
सातवां बोल--शरीर पांच	२७
आठवां बोल--योग पन्द्रह	३०
नौवां बोल--उपयोग बारह	३६
दसवां बोल--कर्म आठ	४५
ग्यारहवां बोल--गुणस्थान चौदह	६१
बारहवां बोल--इन्द्रिय के तेईस विषय	६७
तेरहवां बोल--दस प्रकार के मिथ्यात्व	७१
चौदहवां बोल--नौ तत्त्व के ११५ भेद	७३
पन्द्रहवां बोल--आत्मा आठ	६२
सोलहवां बोल--दण्डक चौबीस	६६
सतरहवां बोल--लेश्या छह	१०५
अठारहवां बोल--दृष्टि तीन	१०८
उन्नीसवां बोल--ध्यान चार	१११
बीसवां बोल--द्रव्य छह	११५
इक्कीसवां बोल--राशि दो	१३०
बाईसवां बोल--श्रावक के बारह व्रत	१३२
तेईसवां बोल--पांच महाव्रत	१३८
चौबीसवां बोल--भांगा ४६	१४१
पचीसवां बोल--चारित्र पांच	१४५
परिशिष्ट--पचीस बोल : आधारस्थल	१४६
प्रश्न पत्र	१५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला बोल

गति चार

१. नरक गति *३. मनुष्य गति*

२. तिर्यञ्च गति *४. देव गति*

जैन दर्शन में जीव दो प्रकार के माने गए हैं--सिद्ध और संसारी।

प्रत्येक वस्तु में भिन्नत्व है। वह उसकी असमानता के कारण ही पाया जाता है। असमानता विजातीय वस्तुओं में मिले, उसमें तो आश्चर्य ही क्या ? किन्तु सजातीय वस्तुओं में भी उपलब्ध होती है और इसी के आधार पर एकजातीय वस्तुओं के भी पृथक्-पृथक् वर्गीकरण किए जाते हैं।

जीव का लक्षण चेतना--उपयोग है। वह जीव मात्र में मिलता है। सामान्य चैतन्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं, एक-जातीय हैं, पर आत्म-शुद्धि सब में एक समान नहीं मिलती। इसलिए जीवों के दो वर्ग किए गए हैं--सिद्ध जीव और संसारी जीव। जो आत्माएं कर्म-रज को धो-मांजकर पूर्णरूपेण उज्ज्वल बन जाती हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं।

वे सिद्ध आत्माएं लोक के उपरितन प्रान्त-भाग में रहती हैं। उनके जन्म, जरा, शोक, भय आदि कुछ भी नहीं होते। प्रत्येक सिद्ध का आत्म-विकास समान होता है। सिद्धों के पन्द्रह भेद चरम-संसारी-अवस्था की अपेक्षा से किए जाते हैं; जैसे--गृहस्थ के वेश में मुक्ति पानेवाले गृहलिंगसिद्ध, जैन-मुनि के वेश में मुक्ति पानेवाले स्वलिंगसिद्ध और अन्य साधुओं के वेश में मुक्ति पाने वाले अन्यलिंगसिद्ध कहलाते हैं। ऐसे ही स्त्री-जन्म में, पुरुष-जन्म में एवं कृत्रिम नपुंसक-जन्म में मुक्त होनेवाले क्रमशः स्त्रीलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध एवं नपुंसक लिंगसिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध होने के पश्चात् उनका संसार-चक्र सदा के लिए मिट जाता है।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः।।

जलाकर खाक किए हुए बीज में अंकुर पैदा नहीं होता, वैसे ही कर्म-बीज दग्ध हो जाने पर आत्मा में भवांकुर (जन्म-मृत्यु परम्परा) पैदा नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनके कर्म-मल लगा हुआ होता है, वे जीव संसारी कहलाते हैं। संसारी जीव विविध प्रकार के कर्म-पुद्गलों से जकड़े हुए होते हैं, इसलिए उनकी स्थिति एक-सी नहीं होती। कोई जीव एक इन्द्रियवाला होता है तो कोई पांच इन्द्रियवाला, कोई त्रस, कोई स्थावर, कोई समनस्क, (मनसहित) कोई अमनस्क (मन रहित)। इस प्रकार संसारी जीवों की अनगिनत श्रेणियां की जा सकती हैं।

हम जानते हैं, आत्मा अमर है। अमुक मर गया है, अमुक जन्मा है—यह भी जानते हैं। अमर पदार्थ की मृत्यु नहीं होती और मृत्यु हुए बिना कोई पैदा नहीं होता, तो फिर अमर आत्मा का मरण एवं जन्म कैसे होता है?

जन्म और मरण से आत्मा का अस्तित्व नहीं मिटता। ये तो आत्मा की अवस्थाएं हैं—आत्मा को एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति में पहुंचाने वाले हैं। संसारी जीवों की मुख्य भवस्थितियां (जन्म-स्थितियां) चार हैं। उन्हें चार गति कहते हैं— १. नरक-गति, २. तिर्यञ्च-गति, ३. मनुष्य-गति, ४. देव-गति।

गति शब्द का अर्थ है—चलना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। परन्तु यहां पर गति शब्द का व्यवहार एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति को या एक अवस्था से दूसरी अवस्था को पाने के अर्थ में हुआ है। जैसे मनुष्य-अवस्था में जीव मनुष्य-गति कहलाता है और वही जीव तिर्यञ्च-अवस्था को प्राप्त हो गया तो हम उसे तिर्यञ्च-गति कहेंगे।

हमारे इस मनुष्य-लोक के नीचे सात पृथ्वियां हैं, जो नरक कहलाती है। उनमें उत्पन्न होने वाले जीवों को नरक-गति कहते हैं। देव-अवस्था को देव-गति एवं मनुष्य-अवस्था को मनुष्य-गति कहते हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर दो, तीन, चार, पांच—इस प्रकार सभी इन्द्रियवाले जीव जिसमें जन्म धारण करते हैं, वह तिर्यञ्च-गति है। मनुष्य और तिर्यञ्च-गति हमारी आंखों के सामने हैं। नरक और देव यद्यपि हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी हम उनके अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकते। आत्मा एवं पुण्य-पाप हैं, तब फिर नरक एवं स्वर्ग क्यों नहीं माने जा सकते? संसार के सब जीव अपने गतिनाम कर्म के उदय से इनमें परिभ्रमण करते रहते हैं।

१. नरक-गति—नरक सात हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। ये सात पृथ्वियां नीचे लोक में हैं। इनमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे नारक कहलाते हैं। यह नरकगति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. *तिर्यञ्च-गति*-एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले जीव तथा पांच-इन्द्रिय वाले स्थलचर-भूमि पर चलने वाले, खेचर-आकाश में उड़ने वाले तथा जलचर-पानी में रहने वाले-सभी जीव तिर्यञ्च कहलाते हैं। यह तिर्यञ्च-गति है।

३. *मनुष्य-गति*-मनुष्य की अवस्था को प्राप्त करना मनुष्य-गति है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं-संज्ञी और असंज्ञी। जिन मनुष्यों के मन होता है, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन नहीं होता, वे असंज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी मनुष्य गर्भ से उत्पन्न होते हैं और असंज्ञी मनुष्य मनुष्य-जाति के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों से पैदा होते हैं। वे बहुत सूक्ष्म होते हैं, इसलिए हमें दिखाई नहीं देते।

४. *देव-गति*-जो जीव देव-योनि में पैदा होते हैं, वे देव-गति हैं। देवता चार तरह के होते हैं-भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।[1]

सभी संसारी जीव अपने किये हुए कर्मों के अनुसार-एक गति में से दूसरी गति में परिवर्तित होते रहते हैं। जैसे एक ही जीव कभी मनुष्य, कभी देवता, कभी तिर्यञ्च और कभी नारक बन जाता है।

प्रश्न-जीव एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक गति से दूसरी गति में जाने के समय कैसे जाता है?

उत्तर-जीव एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के लिए जो गति करता है, उसका नाम अन्तराल-गति है। वह दो प्रकार की है-ऋजु और वक्र। अन्तराल-गति के समय स्थूल शरीर नहीं होता। वह मृत्यु के समय छूट जाता है। कार्मण और तैजस-ये दो सूक्ष्म शरीर जीव के साथ रहते हैं। उस समय गति का साधन कार्मण शरीर होता है।

पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे स्थान में जाने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं-एक वे, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों को सदा के लिए छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं और दूसरे वे, जो पहले के स्थूल-शरीर को छोड़कर नये स्थूल-शरीर को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीव मुक्त होते हैं और दूसरे प्रकार के जीव संसारी कहलाते हैं। मोक्षगति में जानेवाले जीव ऋजुगति से ही जाते है, वक्रगति से नहीं। पुनर्जन्म के लिए स्थानान्तर में जानेवाले जीवों की ऋजु और वक्र-दोनों गतियां होती हैं। ऋजुगति और

---

१. विस्तार के लिए देखें बोल बीसवां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्रगति का आधार उत्पत्ति-क्षेत्र है। जब उत्पत्ति-क्षेत्र मृत्यु-क्षेत्र की सम-श्रेणी में होता है तो जीव एक समय में वहां पहुंच जाता है। यदि उत्पत्ति-क्षेत्र विषम-श्रेणी में होता है तो वहां पहुंचने में जीव को एक, दो या तीन घुमाव करने पड़ते हैं।

ऋजुगति सें स्थानान्तर करते समय जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह पूर्व-शरीर को छोड़ता है तब उसे उस (पूर्व-शरीर) से उत्पन्न वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधा नये स्थान में पहुंच जाता है।

वक्रगति घुमाववाली होती है। इसमें घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह-जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म-शरीर (कार्मण-शरीर) द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। यह कार्मण योग कहलाता है। घुमाव के स्थान में जीव कार्मण-योग के द्वारा नया प्रयत्न करके अपने गन्तव्य में पहुंच जाता है।

अन्तराल गति का कालमान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय का है। जब ऋजुगति हो तब एक समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय लगते हैं। जिस वक्रगति में एक घुमाव हो, उसका कालमान दो समय, जिसमें दो घुमाव हों, उसका कालमान तीन समय और जिसमें तीन घुमाव हों, उसका कालमान चार समय का होता है।

मोक्षगति में जाने वाले जीव अन्तरालगति के समय सूक्ष्म और स्थूल सब शरीरों से मुक्त होते हैं। अतः उन्हें आहार लेने की जरूरत नहीं होती। संसारी जीव सूक्ष्म-शरीर सहित होते हैं। अतः उन्हें आहार की आवश्यकता होती है।

ऋजुगति करने वाले जीव जिस समय में पहला शरीर छोड़ते हैं उसी समय में दूसरे जन्म में उत्पन्न हो आहार लेते हैं। किन्तु दो समय की एक घुमाववाली, तीन समय की दो घुमाववाली और चार समय की तीन घुमाववाली वक्रगति में अनाहारक स्थिति पायी जाती है। क्रमशः पहली का पहला, दूसरी का पहला और दूसरी तथा तीसरा का दूसरा और तीसरा समय अनाहारक अर्थात् आहार-शून्य होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव की अन्तराल गति

गति	*घुमाव*	*समय*	*आहारक-अनाहारक*
ऋजुगति	नहीं	एक	आहारक।
वक्रगति	एक	दो	पहला समय अनाहारक। दूसरा समय आहारक।
वक्रगति	दो	तीन	पहला-दूसरा समय अनाहारक तीसरा समय आहारक।
वक्रगति	तीन	चार	दूसरा-तीसरा समय अनाहारक पहला-चौथा समय आहारक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा बोल

जाति पांच

१. एकेन्द्रिय
२. द्वीन्द्रिय
३. त्रीन्द्रिय
४. चतुरिन्द्रिय
५. पंचेन्द्रिय

चेतना आत्मा का लक्षण है। उसका विकास प्राणीमात्र में समान नहीं, किन्तु तारतम्य-युक्त होता है। विकास की पहली श्रेणी इन्द्रिय-ज्ञान है। विशिष्ट ज्ञान तो किसी में हो या न हो परन्तु इन्द्रय-ज्ञान तो अविकसित आत्मा में भी अवश्य होता है। उसका यदि अभाव हो तो जीव और अजीव में कोई भेद ही न रहे।

इन्द्रियों (त्वचा, जिह्वा, नाक, आंख और कान) के द्वारा जो जीव के विभाग होते हैं, उसे जाति कहते हैं। जाति शब्द का अर्थ सदृशता है; जैसे--गाय जाति, अश्व जाति। गाय जाति में काली, पीली, सफेद आदि समस्त गायों का समावेश होता है। अश्व जाति में विभिन्न प्रकार के समस्त अश्वों का समावेश होता है, वैसे ही एकेन्द्रिय-जाति में पृथ्वी, पानी अग्नि, वायु ओर वनस्पति के समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय-जाति में दो इन्द्रियवाले जीवों का, त्रीन्द्रिय में तीन इन्द्रियवाले जीवों का, चतुरिन्द्रिय में चार इन्द्रियवाले जीवों का और पंचेन्द्रिय में पांच इन्द्रियवाले जीवों का समावेश होता है।

इन्द्रिय-वृद्धि का क्रम यह है कि एकेन्द्रिय जाति में एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है और द्वीन्द्रिय में जीभ, त्रीन्द्रिय में नाक, चतुरिन्द्रिय में आंख और पंचेन्द्रिय में कान--यों क्रमशः एक-एक इन्द्रिय बढ़ जाती है।

जिन जीवों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उन जीवों की जाति है--एकेन्द्रिय। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि।

जिन जावों के स्पर्शन तथा रसन--ये दो इन्द्रियां होती है, उन जीवों की जाति है--द्वीन्द्रिय। लट, सीप, शंख, कृमि, घुन आदि।

जिन जीवों के स्पर्शन, रसन तथा घ्राण--ये तीन इन्द्रियां होती हैं, उन जीवों की जाति है--त्रीन्द्रिय। चींटी, मकोड़ा, जूं, लीख, चींचड़ आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा चक्षु--ये चार इन्द्रियां होती हैं, उन जीवों की जाती है--चतुरिन्द्रिय। मक्खी, मच्छर, भंवरा, टिड्डी, कसारी, बिच्छू आदि।

जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र--ये पांच इन्द्रियां होती हैं, उन जीवों की जाति है--पंचेन्द्रिय। तिर्यञ्च--मच्छ, मगर, गाय, भैंस, सर्प, पक्षी आदि तथा मनुष्य, देव और नारक।

तिर्यञ्च जीव तीन प्रकार के हैं, जैसे--

१. जलचर--जल में विचरने वाले--मछली, कछुआ, मगर आदि।

२. स्थलचर--स्थल-भूमि पर विचरने वाले। ये दो प्रकार के होते हैं; जैसे--

(१) चतुष्पाद--चार पैर वाले।

(२) परिसर्प--रेंगकर चलने वाले।

चतुष्पाद के चार विभाग किये गए हैं :

(क) एक खुर--जिसके एक खुर हो--घोड़ा, गधा आदि।

(ख) द्विखुर--जिसके दो खुर हों--गाय, भैंस आदि।

(ग) गंडी-पद--गोल पैर वाले--हाथी, ऊंट आदि।

(घ) सनख-पद--नख सहित पैर वाले--सिंह, बाघ, कुत्ता, बिल्ली आदि।

परिसर्प के दो विभाग किए गए हैं :

(क) भुज-परिसर्प--जो भुजाओं के बल पर चलते हैं--नेवला, चूहा आदि।

(ख) उर-परिसर्प--जो छाती के बल पर चलते हैं--सर्प आदि।

३. नभचर--आकाश में विचरने वाले जीव। इनको खेचर या पक्षी भी कहते हैं। उनके चार भेद हैं :

(क) चर्म पक्षी--चर्म के परोंवाले चमगादड़ आदि।

(ख) रोमपक्षी--हंस, चकवा आदि।

(ग) समुद्रपक्षी--इनके पंख सदा अविकसित रहते हैं अर्थात् डिब्बे के आकार सदृश इनके पंख सदा ढ़के रहते हैं। ये पक्षी मनुष्य-क्षेत्र से सदा बाहर ही होते हैं।

(घ) विततपक्षी--जिन पक्षियों के पंख सदा खुले या विस्तृत रहते हैं उनको विततपक्षी कहते हैं। ये भी मनुष्य-क्षेत्र से बाहर ही रहते हैं।

मनुष्य--मनुष्य के दो भेद हैं--संमूर्च्छिम और गर्भज।

संमूर्च्छिम--ये मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि में उत्पन्न होते हैं। ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन-रहित हैं। इनको असंज्ञी मनुष्य भी कहते हैं।

गर्भज–ये मनुष्य गर्भ में उत्पन्न होते हैं। ये मन-सहित होते हैं, अतः इनको संज्ञी मनुष्य कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं:

(१) कर्म-भूमिक–असि (तलवार आदि शस्त्र), मसि (लेखन), कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय और शिल्प-कला आदि के द्वारा जहां पर जीवन-निर्वाह किया जाय, वह कर्मभूमि कहलाती है। उसमें रहने वाले मनुष्य कर्म-भूमिक कहलाते हैं।

(२) अकर्म-भूमिक–जहां पर असि, मसि आदि कर्मों की व्यवस्था न हो, जहां जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन–प्राकृतिक साधन, प्राकृतिक उपज (कल्पवृक्ष) हो, उसे अकर्म-भूमि कहा जाता है। उस भूमि के मनुष्य अकर्म-भूमिक कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा बोल

काय छह

१. पृथ्वीकाय	*४. वायुकाय*
२. अप्काय	*५. वनस्पतिकाय*
३. तेजस्काय	*६. त्रसकाय*

संसारी जीवों के छह समूह हैं। ये तरह-तरह के पुद्गलों से बने हुए शरीरों के आधार पर किए गए हैं। काय शब्द का अर्थ शरीर है। जिनका शरीर पृथ्वी, मिट्टी आदि है, वे जीव पृथ्वीकाय कहलाते हैं। पानी-शरीरवाले अप्काय, अग्नि-शरीर वाले तेजस्काय, वायु-शरीर वाले वायुकाय, वनस्पति-शरीर वाले वनस्पतिकाय और हिलने-चलने योग्य शरीरवाले त्रसकाय कहलाते हैं।

इनमें पहले पांच काय स्थावर हैं। जिनका सुख-दुःख साक्षात् न देखा जा सके, जो चलते-फिरते न हों, जिनके स्थावर नामकर्म का उदय हो, वे जीव स्थावर कहलाते हैं। जो जीव सुख-दुःख प्रकट करते हैं एवं जिनमें सुख की प्रवृत्ति व दुःख की निवृत्ति के लिए चलने फिरने की शक्ति होती है, जिनके त्रस नामकर्म का उदय हो, वे जीव त्रस कहलाते हैं। सम्मुख आना, मुड़कर जाना, शरीर का संकोच करना, शरीर को फैलाना, शब्द करना, भय से इधर-इधर घूमना, भाग जाना, आने-जाने का ज्ञान होना, वंश वृद्धि—ये सब जीवों के लक्षण हैं।[1] अग्नि और वायु, ये दोनों हलन-चलन करते हैं, पर सुख-दुःख की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के लिए नहीं। इसलिए ये वास्तविक त्रस नहीं कहे जाते । ये गति-त्रस हैं।

जीव अपने कर्मों के अनुसार जिन-जिन पृथ्वी, पानी आदि को शरीर के रूप में पाता है उन-उन संज्ञाओं से उसका नामकरण किया जाता है।

'काय' शब्द का अर्थ समूह भी है। इससे यह जानने को मिलता है कि मिट्टी की एक डली और पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं। उनके अलग-अलग शरीर समुदाय रूप में रहते हैं।

---

१. आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जीवनमात्र में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—समायोजन व्यवस्था संवेदनशीलता, संचारव्यवस्था, उद्दीपन, चयापचय, वृद्धि, विकास और प्रजनन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न--यदि मिट्टी की एक डली व पानी की एक बूंद में असंख्य जीव हैं तो शरीर कितने हुए ?

उत्तर--असंख्य।

जब इन असंख्य जीवों का एक साथ ज्ञान कराने की आवश्यकता होती है तब हम सब जीवों का अभेद दृष्टि से 'पृथ्वीकाय', 'अप्काय' आदि शब्दों के द्वारा ज्ञान करा सकते हैं।

१. *पृथ्वीकाय*--मिट्टी, मुरड़, पत्थर, हिंगुल, हरताल, हीरा, पन्ना, कोयला, सोना, चांदी आदि सब पृथ्वीकायिक जीव हैं। मिट्टी की एक डली में असंख्य पृथक्-पृथक् जीव होते हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों को जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक पृथ्वी सचित्त (सजीव) होती है। विरोधी-शस्त्र के योग से वह अचित्त (निर्जीव) हो जाती है।

२. *अप्काय*--बरसात का जल, ओस का जल, समुद्र का जल, धूंअर का जल, कुएं, बावड़ी तालाब, झील और नदी का जल आदि सब अप्कायिक जीव हैं। जल की एक बूंद में पृथक्-पृथक् असंख्य जीव होते हैं।

जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक जल सचित्त होता है। विरोधी शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाता है।

३. *तेजस्काय*--अग्नि, विद्युत्, उल्का आदि सब तैजसकायिक जीव हैं। अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी में पृथक्-पृथक् असंख्य जीव होते हैं। उनको जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक अग्नि सचित्त होती है। विरोधी शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाती है।

४. *वायुकाय*--वायु के मुख्य पांच भेद हैं :

(१) उत्कलिका वायु--जो वायु ठहर-ठहर कर चले।

(२) मण्डलिका वायु--जो वायु चक्र खाती हुई चले।

(३) घनवायु--जो वायु रत्नप्रभा आदि पृथ्वी के अथवा विमानों के नीचे है। यह वायु जमी हुई बर्फ की भांति गाढ़ी एवं आधारभूत है।

(४) गुञ्जावायु--जो वायु चलती हुई शब्द करे।

(५) शुद्धवायु--जो वायु उपरोक्त गुणों से रहित तथा मन्द-मन्द चलने वाली हो।

वायुकाय में भी पृथक्-पृथक् असंख्य जीव होते है।

जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक वायु सचित्त होती है। विरोधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाती है।

५. *वनस्पतिकाय*–आम, अंगूर, केला, सब्जी, आलू, प्याज, लहसुन, आदि वनस्पतिकाय हैं। उसके दो भेद किए गए हैं– साधारण और प्रत्येक।

साधारण–जहां एक शरीर में अनन्त जीव हों, उसे साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। सभी प्रकार के कन्द-मूल साधारण वनस्पति हैं।

प्रत्येक–जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव हों, उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे–

(१) वृक्ष–आम आदि।
(२) लता–करेला, ककड़ी आदि।
(३) तृण–दूब आदि।
(४) हरितकाय–चौलाई आदि पत्ते वाले शाक।
(५) जलरुह–जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि।

प्रत्येक वनस्पति में शरीर का निर्माण करने वाला मूलतः एक ही जीव होता है किन्तु उसके आश्रित असंख्य जीव होते हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीवों में यह बात नहीं है। उनमें प्रत्येक जीव अपने शरीर का स्वतंत्र निर्माण करता है।

वनस्पतिकायिक जीवों के उत्पन्न होने के मुख्यतया आठ प्रकार माने गए हैं :

(१) अग्र-बीज–वह वनस्पति, जिसका सिरा ही बीज हो। जैसे–कोरंट (कट्ठसरिया) का वृक्ष आदि।
(२) मूल-बीज–वह वनस्पति, जिसका मूल ही बीज हो। जैसे–कंद आदि।
(३) पर्व-बीज–वह वनस्पति, जिसकी गांठे ही बीज हों। जैसे–ईख आदि।
(४) स्कन्ध-बीज–वह वनस्पति, जिसके स्कन्ध ही बीज हों। जैसे–थूहर आदि।
(५) बीज-रुह–वह वनस्पति, जो बीज से उत्पन्न हो। जैसे–गेहूं, जौ आदि।
(६) सम्मूर्च्छिम–वह वनस्पति, जो स्वयमेव पैदा होती है, जैसे–अंकुर आदि।
(७) तृण–तृणादि घास।
(८) लता–चम्पा, चमेली, ककड़ी, खरबूज, तरबूज आदि की बेलें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनस्पति में पृथक्-पृथक् अनेक जीव होते हैं। जब तक उनको विरोधी शस्त्र न लगे तब तक वनस्पति सचित्त होती है। विरोधी शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाती है।

वनस्पतिकाय में अनन्त जीव होते हैं। शेष पांच कायों में असंख्य जीव होते हैं। पृथ्वी, पानी आदि जो हमें दीखते हैं, वे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीवों के शरीर हैं।

एक जाति के जीव अपनी तथा दूसरी जाति के जीवों के लिए शस्त्र होते हैं। जिस तरह शस्त्र द्वारा मनुष्यों का नाश होता है, उसी तरह परस्पर-विरोधी स्वभाव के जीव एक-दूसरे का शस्त्र के समान नाश करते हैं। जैसे विरोधी स्वभाव वाले दो मिट्टियों के जीव एक-दूसरे के घातक हैं; अग्निकायिक जीव जलकायिक जीवों के लिए शस्त्र हैं, उसी तरह जलकायिक जीव अग्निकायिक जीवों के लिए शस्त्र हैं। सचित्त मिट्टी से जो सचित्त मिट्टी के जीवों का नाश होता है, वह स्वकाय-शस्त्र कहलाता है तथा अग्नि से मिट्टी के जीवों का नाश होता है, वह परकाय-शस्त्र कहलाता है। वायुकाय का शस्त्र वायुकाय ही है। सचित्त वायु से जो वायु का नाश होता है, वह स्वकाय-शस्त्र और अचित्त वायु से जो वायु का नाश होता है, वह परकाय-शस्त्र है।

६. *त्रसकाय*–द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के समस्त हिलने-चलने, घूमने-फिरने वाले जीव त्रसकायिक जीव कहलाते हैं। इन जीवों के उत्पन्न होने के मुख्यतया आठ प्रकार हैं :

(१) अण्डज–वे त्रस जीव, जो अण्डों से पैदा होते हैं। जैसे–पक्षी, सर्प आदि।

(२) पोतज–वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय खुले अंगों सहित होते हैं। जैसे–हाथी आदि।

(३) जरायुज–वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय मांस की झिल्ली से लिपटे रहते हैं। जैसे–मनुष्य, भैंस, गाय आदि।

(४) रसज–वे त्रस जीव, जो दही आदि रसों में उत्पन्न होते हैं, जैसे–कृमि आदि।

(५) स्वेदज–वे त्रस जीव, जो पसीने से उत्पन्न होते हैं। जैसे–जूं, लीख आदि।

(६) सम्मूर्च्छिम–वे त्रस जीव, जो नर-मादा के संयोग बिना ही उत्पन्न होते हैं। जैसे–मक्खी, चींटी आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) उद्भिज–वे त्रस जीव, जो पृथ्वी को फाड़कर निकलते हैं। जैसे–टिड्डी, पतंग आदि।

(८) औपपातिक–वे त्रस जीव, जो गर्भ में रहे बिना ही स्थान-विशेष में पैदा होते हैं। जैसे–देव और नारक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा बोल

इन्द्रिय पांच

१. स्पर्शन इन्द्रिय *४. चक्षुः इन्द्रिय*

२. रसन इन्द्रिय *५. श्रोत्र इन्द्रिय*

३. घ्राण इन्द्रिय

प्रत्येक जीव तीन लोक के ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है, इसलिए उसे इन्द्र कहते हैं। वह (इन्द्र या जीव) जिस चिह्न से पहचाना जाये, उसे इन्द्रिय कहते हैं। यह 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति है।

जिससे अपने एक विषय का ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। यह इन्द्रिय की परिभाषा है। जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है, वह है स्पर्शन इन्द्रिय--त्वचा। जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, वह है रसन-इन्द्रिय--जिह्वा। जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है वह है घ्राण-इन्द्रिय--नाक। जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है वह है चक्षुः इन्द्रिय--आंख। जिस इन्द्रिय से ध्वनि का ज्ञान होता है, वह है श्रोत्र-इन्द्रिय--कान।

इन्द्रिय के दो भेद हैं :

(१) द्रव्येन्द्रिय--नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

(२) भावेन्द्रिय--आत्मा के परिणाम विशेष (जानने की योग्यता और प्रवृत्ति) को भावेन्द्रिय कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं :

(१) निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय--इन्द्रिय की आकार-रचना को निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार दो प्रकार के होते हैं--बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य आकार भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न होते हैं, सबके एक-से नहीं होते। आभ्यन्तर आकार सब जीवों के एक-से होते हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कदम्ब के फूल जैसा, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा, रसन इन्द्रिय का खुरपे जैसा होता है। केवल स्पर्शन इन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार अनेक प्रकार का होता है। वह अपने शरीर के आकार जैसा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) उपकरण-द्रव्येन्द्रिय--आभ्यन्तर-निर्वृत्ति के भीतर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ जो पौद्गलिक शक्ति होती है, उसे उपकरण-द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न--आभ्यन्तर-निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय और उपकरण-द्रव्येन्द्रिय में क्या भेद है ?

उत्तर--आभ्यन्तर निर्वृत्ति है आकार और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति। वात-पित्त आदि से उपकरण-द्रव्येन्द्रिय नष्ट हो जाए तो आभ्यंतर द्रव्येन्द्रिय होने पर भी विषयों का ग्रहण नहीं होता । उदाहरणार्थ--बाह्य निर्वृत्ति है तलवार, आभ्यंतर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं :

(१) लब्धि-भावेन्द्रिय--ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम[1] होने पर स्पर्श आदि विषयों को जानने की जो शक्ति होती है, उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं।

(२) उपयोग-भावेन्द्रिय--ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग-भावेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न--लब्धि और उपयोग में क्या अन्तर है?

उत्तर--लब्धि है चेतना की योग्यता और उपयोग है चेतना का व्यापार। प्रकारान्तर से लब्धि-भावेन्द्रिय का अर्थ है--स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् आत्म-स्वरूप का उतना प्रकट होना कि जिसकी प्रवृत्ति से जीव स्पर्श, गन्ध, रूप, रस और शब्द को जान सके। और उनकी जानने की जो प्रवृत्ति है वह उपयोग-भावेन्द्रिय है। उदाहरणार्थ--किसी व्यक्ति ने एक दूरबीन यन्त्र खरीदा, यह तो हुई प्राप्ति और उस यंत्र से उसने दूर-स्थित पदार्थों का निरीक्षण किया, यह हुआ उपयोग।

प्रश्न--इन्द्रिय के निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग--ये चार भेद किये गए हैं, उनका आधार क्या है?

---

१. क्षय और उपशम से क्षयोपशम शब्द बनता है। जब क्षययुक्त उपशम होता है तब उसे क्षयोपशम कहते हैं। क्षय का अर्थ है--आत्मा से कर्म का सम्बन्ध छूट जाना और उपशम का अर्थ है कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहते हुए भी उसका आत्मा पर फलरूप में असर न होना। क्षयोपशम सिर्फ घाति-कर्म का ही होता है। क्षयोपशम में प्रदेशोदय रहता है और उपशम में प्रदेशोदय नहीं रहता, यही क्षयोपशम और उपशम का अन्तर है। क्षयोपशम से आत्मा की जो अवस्था होती है, उसे क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर--जानने का गुण चेतना का है, जड़ का नहीं। चेतना का जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक वह जिस विषय पर ध्यान देती है उसे ही जान सकती है, दूसरे को नहीं। यह लब्धि और उपयोग का आधार है। चेतन को जो ज्ञान करने की क्षमता या योग्यता प्राप्त होती है, वह लब्धि-इन्द्रिय है। इस योग्यता की प्राप्ति होने पर भी यह बात नहीं कि हम निरंतर उस विषय का ज्ञान करते रहें। जिस समय जिस इन्द्रिय को उपयोग में लाएं उस समय उसके द्वारा ज्ञान कर सकते हैं--यह उपयोग इन्द्रिय है।

इंद्रिय-ज्ञान स्वतंत्र नहीं है, उसे अपने विषय की जानकारी में पौद्गलिक इन्द्रियों का सहयोग लेना पड़ता है। जानने की क्षमता होने पर भी यदि आंख का गोला विकृत हो जाए तो चक्षु-इंद्रिय अपने विषय का ज्ञान नहीं कर सकती। अतः निर्वृत्ति-इन्द्रिय की भी आवश्यकता जानी जाती है। निर्वृत्ति के होते हुए भी कभी-कभी इंद्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। अतः जाना जाता है कि निर्वृत्ति के सिवाय एक और भी शक्ति है, जो जानने में उपकार करती है। वह उपकरण-इंद्रिय है। निर्वृत्ति और उपकरण-इन्द्रिय ज्ञान के साधन हैं, लब्धि ज्ञान की शक्ति है और उपयोग उस शक्ति का कार्य-रूप में परिणमन है। ये चारों मिलकर अपने-अपने विषय का ज्ञान कर सकती हैं, एक-दो-तीन नहीं।[1]

इन पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और भी इन्द्रिय है, जिसे मन कहते हैं। मन ज्ञान का साधन है, पर स्पर्शन आदि की तरह बाह्य साधन न होकर आंतरिक साधन है, अतः उसे अंतःकरण भी कहते है। मन का विषय बाह्य इन्द्रियों की तरह परिमित नहीं है। बाह्य-इंद्रियां केवल मूर्त पदार्थों को ग्रहण करती हैं और वह भी अंश रूप से। परन्तु मन मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है और वह भी अनेक रूप से। मन का काम विचार करने का है। वह सभी विषयों में विकास-योग्यता के अनुसार विचार कर सकता है। वह

---

१. इस विषय में अन्य दर्शनों का मन्तव्य कुछ भिन्न है। वे मानते हैं कि इन्द्रियां स्वयं जड़ हैं, किंतु मन के संयोग से ज्ञान करती हैं। इस प्रश्न का जैन दर्शन यों समाधान करता है--जो दृश्यमान बाह्य इन्द्रियां हैं, वे जड़ हैं, किन्तु उनकी सहायता से जो ज्ञान करने वाली शक्ति वह जड़ नहीं है, जो स्वयं चेतन नहीं होता वह किसी के सहयोग से भी ज्ञान नहीं कर सकता। यदि जड़ वस्तु में भी संयोग से ज्ञान-शक्ति आ जाए तब तो जड़ और चेतन में अत्यन्ताभाव (त्रिकालवर्ती विरोध) ही नहीं रह पाता। अतः कहा जा सकता है कि जो जानती हैं वे इन्द्रियां चेतन हैं, जड़ नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों द्वारा जाने गए विषयों का आलोचनात्मक ज्ञान करता है, इसलिए वह नो-इन्द्रिय या ईषद्-इन्द्रिय (इन्द्रिय जैसा) कहलाता है। वह चिंतन में स्वतंत्र होता है, इसलिए वह अनिन्द्रिय भी कहलाता है।

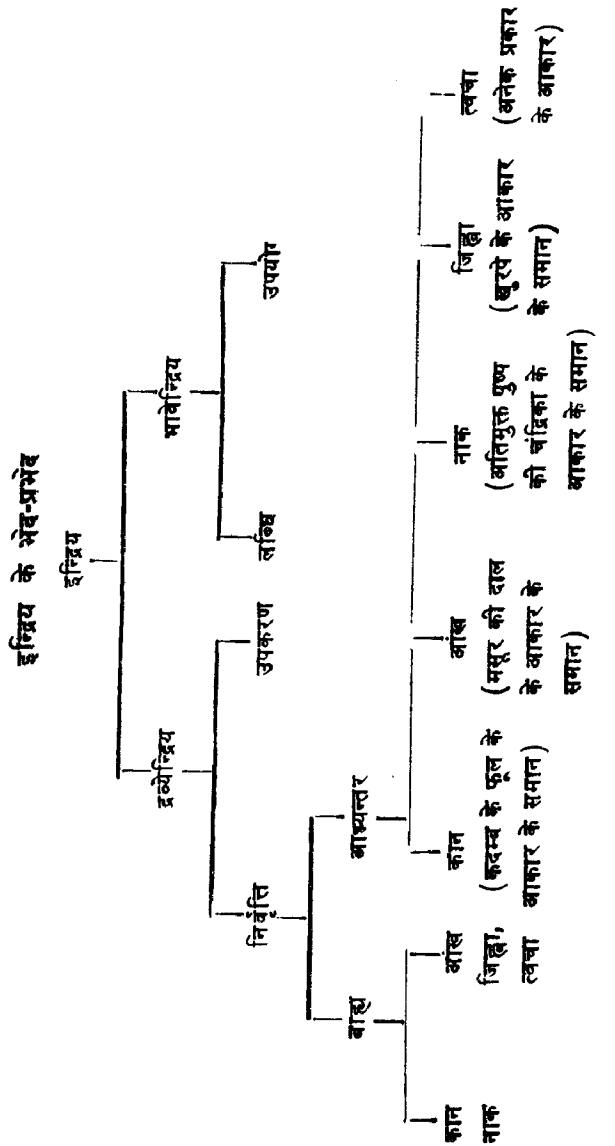

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवां बोल

पर्याप्ति छह

१. आहार-पर्याप्ति	*४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति*
२. शरीर-पर्याप्ति	*५. भाषा-पर्याप्ति*
३. इन्द्रिय-पर्याप्ति	*६. मनः-पर्याप्ति*

पर्याप्ति का अर्थ है—जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति के निर्माण की पूर्णता।

जब जीव एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब भावी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए अपने नवीन जन्म-क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का निर्माण करता है। इसे या इससे उत्पन्न होने वाली शक्ति को—पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

छहों ही पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक काल में होता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है, इसलिए क्रम का नियम रखा गया है। आहार-पर्याप्ति को पूर्ण होने में एक समय[1] और शरीर-पर्याप्ति आदि पांचों में से प्रत्येक को अन्तर्मुहूर्त्त[2] लगता है।

१. मकान बनाने वाला सबसे पहले उसकी सामग्री—काठ, ईंट, मिट्टी, पत्थर, चूना आदि इकट्ठा करता है। इसी प्रकार जीव जन्म-ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है। उन पुद्गलों को या उनकी शक्ति को कहते हैं—आहार पर्याप्ति।

२. आहार-पर्याप्ति में सब पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल ग्रहण किये हुए होते हैं। अमुक काठ स्तम्भ बनाने के योग्य है, अमुक कपाट बनाने के योग्य, अमुक पत्थर पट्टियों या दीवारों के योग्य है। इस विभाग के समान है—शरीर-पर्याप्ति। आहार-पर्याप्ति में जो पुद्गल शरीर की रचना करने में

---

१. जैन सिद्धांत में सबसे सूक्ष्म अर्थात् अविभाज्य (जिसके भाग न हो सकें) काल का नाम 'समय' है।

२. दो समय से लेकर दो घड़ी (४८ मिनट) में एक समय कम—इतने काल को अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त के तीन भेद हैं:

(१) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त—दो समय का काल।

(२) उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त— दो घड़ी में एक समय कम का काल।

(३) मध्यम अन्तर्मुहूर्त्त—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच का काल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थ होते हैं, उन पुद्गलों या उनके शरीर बनाने की शक्ति को कहते हैं--शरीर-पर्याप्ति।

३. दीवारें या कमरा बनाने के समय उनमें प्रवेश और निकास के हक रखे जाते हैं, दरवाजे बनाये जाते हैं। घर के समान आकारवाली शरीर-पर्याप्ति में दरवाजों के समान इन्द्रिय-पर्याप्ति है। परोक्ष ज्ञान वाली आत्मा बाह्य इंद्रियों के द्वारा ही वस्तुओं का ज्ञान कर सकती है।

४-५. श्वासोच्छ्वास[1]-पर्याप्ति और भाषा-पर्याप्ति का स्वरूप उपरोक्त उदाहरण के द्वारा ही समझना चाहिए; क्योंकि इन दोनों में भी इन्द्रिय की तरह प्रवेश और निर्गम होता है।

६. मकान तैयार होने के बाद, यह कमरा शीतकाल में गरम रहता है, यह ग्रीष्मकाल में ठंडा रहता है, यह शयन-घर है, यह भोजन-घर है इत्यादि विचारों के समान है मनःपर्याप्ति। हेय (छोड़ने योग्य) वस्तुओं का परित्याग एवं उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुओं के स्वीकार का ज्ञान मनःपर्याप्ति के आलम्बन से ही किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार पर्याप्तियों की निम्न प्रकार से परिभाषा की जा सकती है:

(१) जिस पुद्गल-समूह से शरीर आदि पांच पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल ग्रहण करने वाली क्रिया की पर्याप्ति या पूर्णता होती है, उसे आहार-पर्याप्ति कहते हैं।

(२) शरीर के योग्य पुद्गलों की, शरीर के अंगोपांगों की रचना करने वाली क्रिया की पर्याप्ति होती है जिस पुद्गल-समूह से, उसे कहते हैं--शरीर-पर्याप्ति।

(३) त्वचा आदि इन्द्रियों की रचना करने वाली क्रिया की पर्याप्ति होती है जिस पुद्गल-समूह से, उसे कहते हैं--इन्द्रिय-पर्याप्ति।

४. श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्ग (त्याग) करने

---

१. बाहर की वायु को शरीर के अन्दर ले जाना और अन्दर की वायु को शरीर से बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहलाता है। यह काम केवल फेफड़ों के द्वारा ही नहीं होता, परंतु चर्म-छिद्रों के द्वारा भी होता है। हमारे समूचे शरीर से श्वासोच्छ्वास की क्रिया होती रहती है। यदि फेफड़े को ही श्वासोच्छ्वास का साधन मान लें तब तो वनस्पति-काय में श्वासोच्छ्वास की क्रिया नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वनस्पतिकाय में फेफड़ा नहीं होता। परन्तु जैन-सिद्धान्त के अनुसार वनस्पति-काय में भी श्वासोच्छ्वास होता है, अतः यह मानना पड़ेगा कि श्वासोच्छ्वास प्राणी के समूचे शरीर से होता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाली शक्ति--क्रिया की पर्याप्ति होती है जिस पुद्गल-समूह से, उसे कहते हैं--श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति।

५. भाषा के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्ग करने वाली क्रिया की पर्याप्ति होती है जिस पुद्गल-समूह से, उसे कहते हैं--भाषा-पर्याप्ति।

६. मन के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्ग करने वाली क्रिया की पर्याप्ति होती है जिस पुद्गल-समूह से, उसे कहते हैं--मनः पर्याप्ति।

प्रश्न--पर्याप्तियों के पूर्ण होने के बाद उनसे जीवों को क्या लाभ होता है?

उत्तर--आहार पर्याप्ति के द्वारा जीव प्रतिसमय आहार[1] करने की क्रिया करता है, अपने योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उसके द्वारा ही गृहीत आहार खल (असार मल-मूत्र रूप) और सार (रस रूप में) विभाजित होता है।

शरीर-पर्याप्ति के द्वारा उस आहार का सात धातुओं के रूप में परिणमन होता है।

इंद्रिय-पर्याप्ति इन्द्रियों के विषयों को जानने में सहायक होती है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया, बोलने की क्रिया, आलोचना की क्रिया क्रमशः श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति की सहायता से होती है।

पर्याप्ति प्राणी का एक विलक्षण लक्षण है। प्राणी के सिवाय यह लक्षण अन्यत्र कहीं भी नही मिलता। पर्याप्तियों के द्वारा प्राणियों में विभिन्न पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्ग होता रहता है।

---

१. औदारिक, वैक्रिय, आहारक और छहों पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गलों का ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं। आहार तीन प्रकार के हैं--ओज-आहार, रोम-आहार और कवल-आहार

ओज-आहार--कार्मण योग के द्वारा प्रथम समय में जो पुद्गल-समूह ग्रहण किया जाता है, वह है--ओज-आहार

रोम-आहार--स्पर्शन-इन्द्रिय द्वारा जो पुद्गल-समूह ग्रहण किया जाता है, वह है--रोम-आहार। रोम-कूप के द्वारा क्षण-क्षण में पुद्गलों का ग्रहण होता रहता है। सूर्य के ताप से संतप्त और प्यासा पथिक वृक्ष की छाया में जाकर रोम-कूप के द्वारा ठंड के पुद्गलों को ग्रहण करता है और परम शांति का अनुभव करता है।

प्रक्षेप या कवल-अपहार--वह आहार, जो मुख से ग्रहण किया जाए अथवा जो बाह्य साधनों के द्वारा शरीर में प्रक्षिप्त किया जाए। नाक के द्वारा रबर की नली से या गुदा, इंजेक्शन के द्वारा जो आहार शरीर में प्रवेश कराया जाता है, वह सब कवल-आहार की श्रेणी में है। एक आहार मानसिक है, जो देवताओं के होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार-पर्याप्ति के द्वारा हम आहार के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, उन्हें आहार के रूप में परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

शरीर-पर्याप्ति के द्वारा शरीर के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, शरीर के रूप में परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

इंद्रिय-पर्याप्ति के द्वारा इंद्रिय के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, इन्द्रिय के रूप में परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

भाषा-पर्याप्ति के द्वारा भाषा के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, भाषा के रूप में परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

मनःपर्याप्ति के द्वारा मानस विचारों के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, मानस विचारों के रूप में परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठा बोल

प्राण दश

१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	*६. मनोबल*
२. चक्षुरिन्द्रिय प्राण	*७. वचनबल*
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	*८. कायबल*
४. रसनेन्द्रिय प्राण	*९. श्वासोच्छ्वास प्राण*
५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	*१०. आयुष्य प्राण*

प्राण अर्थात् जीवन-शक्ति। जिनके संयोग से यह जीव जीवन-अवस्था को प्राप्त हो और वियोग से मरण-अवस्था को प्राप्त हो, उनको प्राण कहते हैं। प्राण जीव के वाह्य लक्षण हैं। ये जीव हैं, जीते हैं--ऐसी प्रतीति प्राणों से ही होती है। प्राणों के विना कोई भी जीवित नहीं रह सकता। प्राणों की क्रिया होती रहती है--यही संसारी जीव का जीवन है।

पांचों ही इन्द्रियों की जो ज्ञान करने की शक्ति है उसे कहते हैं--पांच इंद्रिय-प्राण। मनन करने, बोलने और शारीरिक क्रिया करने की शक्ति को कहते हैं--मनोबल, वचनवल और कायबल। बल और प्राण का अर्थ एक ही है। पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति को कहते हैं--श्वासोच्छ्वास प्राण । अमुक भव में अमुक काल तक जीवित रहने की शक्ति को कहते हैं--आयुष्य प्राण।

प्रश्न--प्राण और पर्याप्ति में क्या भेद है ?

उत्तर--प्राण जीव की शक्ति है और पर्याप्ति जीव द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गलों की शक्ति है। पर्याप्ति सहकारी कारण है और प्राण कार्य है। आत्मा की जितनी भी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति होती है, वह सब बाह्य द्रव्यापेक्षी होती है--पुद्गलों की सहायता से ही होती है। वायुयान आकाश में तभी घूम सकता है जब कि उसे ईन्धन आदि बाह्य सामग्री की सहायता मिले। जीव की मन, वचन और शरीर से संबंध रखने वाली कोई भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं, जो पुद्गल द्रव्य की सहायता के बिना हो सके। अतएव संसार अवस्था में जीव और पुद्गल का घनिष्ठ संबंध रहता है। जीव अदृश्य पदार्थ है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल दृश्य पदार्थ। इसी कारण कई व्यक्तियों को जीव के अस्तित्व के विषय में संदेह होता है, पर उन्हें इतना तो समझ लेना चाहिये कि जो कुछ खाने-पीने, चलने-फिरने, बोलने आदि की प्रवृत्ति दीखती है, वह क्रिया है। उसका कर्ता अदृश्य जीव है। जीव जब तक शरीर में रहता है तब तक ये क्रियाएं होती हैं। इन क्रियाओं का सम्पादन करने वाली शक्ति प्राण या जीवन-शक्ति कहलाती है और इन क्रियाओं के सम्पादन में जिन पौद्गलिक शक्तियों की सहायता मिलती है, उन्हें पर्याप्ति कहा जाता है।

प्रश्न--किस-किस प्राण की कौन-कौन-सी पर्याप्ति कारण है?

उत्तर--पांच इंद्रिय प्राण का कारण है--इंद्रिय-पर्याप्ति। मनोबल, वचनबल और कायबल का क्रमशः कारण है--मनः पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति। श्वासोच्छ्वास प्राण का कारण है--श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति। आयुष्य प्राण का कारण है--आहार-पर्याप्ति, क्योंकि आहार-पर्याप्ति के आधार पर ही आयुष्य-प्राण टिक सकता है।

प्राण या जीवन-शक्ति को समझने के लिए मृत्यु क्या है, यह समझना भी जरूरी है। वर्तमान शरीर-विज्ञान के अनुसार दिमाग, हृदय और फेफड़ों का कार्य-संचालन बन्द हो जाना ही मृत्यु है।

जब इस मानव-यंत्र के खास-खास पुर्जे जीर्ण होते हैं तब यह समूचा यंत्र बंद हो जाता है। मानव-शरीर के मुख्य अंग हृदय, फेफड़ा तथा दिमाग हैं। जब किसी बीमारी या दुर्घटना से ये तीनों जख्मी या जीर्ण हो जाते हैं या इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है तब इनका काम बन्द हो जाता है। यही है मृत्यु।

परन्तु इस सिद्धांत के विपरीत हमें ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं कि हृदय की गति कई घण्टों तक बंद रहने के बाद भी मनुष्य जीवित रह सकता है। अड़तालीस घंटों तक श्वास की गति एवं हृदय की गति एकदम बंद रहने के पश्चात् भी मानव जीवित पाया गया है। ऐसे भी कई उदाहरण हैं, जिनमें मानव चालीस दिनों तक संदूक में (जिसमें हवा के प्रवेश और निकास का कोई भी छिद्र न हो) बंद रहने के बाद भी जीवित निकला है।

जैन सिद्धांत के अनुसार जीवन-शक्ति के स्रोत दिमाग , हृदय और फेफड़े ही नहीं, किंतु दस प्राण हैं। उन दसों में किसी एक शक्ति का काम बंद हो जाने पर मृत्यु नहीं होती। जब तक आयुष्यप्राण क्रियाशील है तब तक किसी एक शक्ति का काम बंद हो जाने पर भी प्राणी जीवित रह सकता है। उक्त उदाहरण में चालीस दिनों तक संदूक में बंद प्राणी के पांचों इंद्रियां, हृदय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फेफड़े और दिमाग—सभी ने काम बंद कर दिया था। बाह्य पौद्गलिक सामग्री के अभाव में वे अपने काम नहीं कर सकते थे फिर भी उस व्यक्ति में आयुष्य-प्राण अपनी क्रिया कर रहा था और उसी के आधार पर जीवन टिका हुआ था। ज्योंही उसे बाह्य वातावरण का अनुकूल योग मिला, उसकी अवरुद्ध जीवन-शक्तियां पुनः क्रियाशील बन गईं।

शरीर की समस्त क्रियाएं और समस्त अंगों का कार्य संचालन तभी तक हो सकता है जब तक आयुष्य-प्राण क्रियाशील होता है। उसके समाप्त होते ही समस्त क्रियाएं सम्पूर्ण रूप से बन्द हो जाती हैं और हम कहते हैं कि उस प्राणी की मौत हो चुकी है।

प्रश्न—(क) शरीर हृष्ट-पुष्ट है। दिमाग, हृदय, फेफड़ा, पांचों इन्दियां आदि सभी स्वस्थ हैं। कोई खास बीमारी, दुर्घटना भी नहीं होती। फिर भी ऐसा स्वस्थ प्राणी अचानक मर जाता है, ऐसा क्यों ?

(ख) शरीर वृद्ध है। देह जर्जरित है। भयानक विपत्ति आ पड़ी है, भयंकर बीमारी भी हुई है, फिर भी वह नहीं मरता, जीवन-काल को बढ़ाए ही जा रहा है। इसका कारण क्या है?

(ग) कहा जाता है कि मनुष्य की जितनी आयु होती है, उतना ही वह जीता है। आयुष्य को कोई भी एक मिनट घटा-बढ़ा नहीं सकता। फिर भी हम देखते हैं कि अग्नि में कूदने से निश्चय ही मृत्यु होगी, तीव्र विष खाने से मरना ही होगा। इसका रहस्य क्या है?

उत्तर—आयु के पुद्गल स्वल्प होते हैं तब स्वस्थ प्राणी की भी दुर्घटना के बिना ही मृत्यु हो जाती है।

आयु के पुद्गल अधिक होते हैं तब दुर्घटना और रोग होने पर भी प्राणी आश्चर्यपूर्ण ढ़ंग से जीवित रह जाता है।

आयु दो प्रकार की होती है :

१. *अपवर्तनीय*—जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले भी भोगी जा सके, वह अपवर्तनीय आयु है।

२. *अनपवर्तनीय*—जो आयु बंधकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके, वह अनपवर्तनीय आयु है।

आगामी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में ही निश्चित होती है। उस समय अगर परिणाम मंद हों तो आयु का बंध शिथिल होता है, जिससे निमित्त मिलने पर आयु की बंधी हुई काल-मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत अगर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणाम तीव्र हों तो आयु का बंधन भी गाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बंधी हुई काल-मर्यादा घटती नहीं। तीव्र परिणाम-जनित गाढ़ बंध वाली आयु शस्त्र, विष, दुर्घटना आदि के प्रयोग होने पर भी अपनी नियत काल-मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती, परन्तु मंद परिणाम-जनित शिथिल बंध वाली आयु शस्त्र, विष और दुर्घटना का योग होते ही अपनी नियत काल-मर्यादा समाप्त होने के पहले ही अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्तना या अकाल-मृत्यु कहते हैं और नियत स्थिति तक आयु को भोग लेने को अनपवर्तना, काल-मृत्यु या स्वाभाविक मृत्यु कहते हैं।

अपवर्तनीय आयु सोपक्रम (उपक्रम-सहित) होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकाल-मृत्यु होती है, उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है।

अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम—दो प्रकार की होती है। इस आयु को अकाल-मृत्यु लाने वाले उक्त निमित्तों की प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती । उक्त निमित्त मिलने पर भी अनपवर्तनीय आयु वालों की आयु पूर्ण नहीं होती, वे जीवित ही रहते हैं। वे अकाल-मृत्यु किसी भी हालत में प्राप्त नहीं कर सकते। हरेक प्रकार की दुर्घटना में वे बच निकलते हैं।

नारक, देव, असंख्यात वर्षजीवी मनुष्य और तिर्यञ्च, चर्मशरीरी और त्रिषष्टिशलाकापुरुष--तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, अनपवत-नीय आयुवाले होते हैं। उनकी आयुस्थिति जितनी नियत होती है उतनी ही रहती है। इसके पहले वे किसी भी हालत में मर नहीं सकते।

सामान्य मनुष्य और तिर्यञ्च अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय—दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं। निमित्त मिलने पर उनकी अकाल-मृत्यु हो भी सकती है और निमित्त न मिलने पर अकाल-मृत्यु नहीं भी होती ।

कर्मवाद के अनुसार इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार होगा कि जो आयुष्य-कर्म चिरकाल तक भोगा जाने वाला होता है, वह एक साथ जल्दी ही भोग लिया जाता है। उसका कोई भी भाग बिना भोगे नहीं छूटता।

उदाहरणार्थ :-

१. जैसे यदि घास की सघन राशि में एक तरफ से छोटी-सी अग्नि की चिनगारी छोड़ दी जाए तो वह चिनगारी एक-एक तिनके को क्रमशः जलाते-जलाते उस सारी राशि को जलाने में काफी समय लगा सकती है, परन्तु वही चिनगारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगर घास की शिथिल राशि में छोड़ दी जाए तो कुछ ही क्षणों में वह समूची राशि को जला डालेगी।

२. दो समान वस्त्र के टुकड़े समान पानी में भिगोए गए। उनमें से एक कपड़े को फैलाकर सुखाया गया और दूसरे को समेटकर। पहला कपड़ा जल्दी सूखेगा और दूसरा बहुत देरी से। पानी का परिमाण और कपड़े की शोषण-क्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और फैलाव के कारण सूखने में देरी और जल्दी का फर्क पड़ता है। इसी प्रकार समान परिमाणयुक्त अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु के भोगने में भी सिर्फ देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है, और कुछ नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवां बोल

शरीर पांच

१. औदारिका *४. तैजस*

२. वैक्रिय *५. कार्मण*

३. आहारक

जिसके द्वारा चलना, फिरना खाना-पीना आदि क्रियाएं होती हैं, प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होना जिसका स्वभाव है, जो शरीर-नामकर्म के उदय से बनता है और जो संसारी आत्माओं का निवास-स्थान होता है, उसे शरीर कहते हैं।

आत्मा रूप-रहित है। उसको हम देख नहीं सकते। पर संसारी आत्माएं किसी दृष्टिकोण से रूप-युक्त भी मानी जाती हैं। इसलिए वे हमारे प्रत्यक्ष भी हैं। संसार की समस्त आत्माओं के शरीर होता है। शरीर को हम देखते हैं, तब आत्मा का हमें अपने आप बोध हो जाता है।

आत्मा स्वयं शरीर का निर्माण कर उसको अपनी समस्त जीवन-क्रिया का साधन बनाती है, अतः उसके चले जाने के बाद उन क्रियाओं का नाश हो जाता है। यह निश्चय है कि शरीर आत्माओं से सर्वथा पृथक् है। आत्माएं ज्ञानमय हैं और शरीर ज्ञान-शून्य है--पौद्गलिक है। आत्मा को पौद्गलिक सुख-दुःख का जितना भी अनुभव होता है वह सब शरीर के द्वारा ही होता है। इसीलिए शरीर की परिभाषा भी इस प्रकार की जाती है--'पौद्गलिक सुख-दुःखानुभवसाधनं शरीरम्'।

औदारिक शरीर--जो शरीर स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न होता है, वह औदारिक शरीर है। वैक्रिय आदि चारों सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पुद्गलों के बने हुए होते हैं। औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद भी टिक सकता है, परन्तु वैक्रिय आदि शरीर आत्मा से अलग होते ही बिखर जाते हैं। औदारिक शरीर का छेदन-भेदन किया जा सकता है, परंतु अन्य शरीरों में छेदन-भेदन संभव नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति भी केवल औदारिक शरीर से हो सकती है। औदारिक शरीर में हाड, मांस, रक्त आदि होते हैं। इसका स्वभाव है गलना, सड़ना एवं विनाश होना।

वैक्रिय शरीर--जिस शरीर से छोटापन, बड़ापन, सूक्ष्मता, स्थूलता, एकरूप,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक-रूप आदि विविध क्रियाएं की जा सकती हैं, वह वैक्रिय शरीर है। जिस शरीर में हाड़, मांस, रक्त न हो तथा जो मरने के बाद कपूर की तरह उड़ जाए, उसको वैक्रिय शरीर कहते हैं।

आहारक शरीर–चतुर्दश पूर्वधर मुनि आवश्यक कार्य उत्पन्न होने पर जो वेशिष्ट पुद्गलों का शरीर बनाते हैं, वह आहारक शरीर है।[1]

तैजस शरीर–जो शरीर आहार आदि को पचाने में समर्थ है और जो तेजोमय है, वह तैजस शरीर है। उसे विद्युत् शरीर भी कहा जाता है।

कार्मण शरीर–ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल-समूह से जो शरीर बनता है, वह कार्मण शरीर है।

इनमें तैजस और कार्मण--ये दो शरीर प्रत्येक संसारी आत्मा के हर समय विद्यमान रहते हैं। औदारिक शरीर जन्म-सिद्ध होता है। वैक्रिय शरीर जन्म-सिद्ध और लब्धि-सिद्ध दोनों प्रकार का होता है। आहारक शरीर योग-शक्ति से प्राप्त होता है। प्रवाह रूप में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अनादि है और व्यक्तिरूप से सादि।

औदारिक, वैक्रय और आहारक शरीर के अंगोपांग होते हैं, शेष शरीरों के नहीं होते।

औदारिक आदि चारों शरीरों का निमित्त है कार्मण शरीर। कार्मण शरीर का निमित्त है आश्रव।

जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में कैसे प्रवेश कर सकता है? यह समस्या कई आत्मवादियों को भी जटिल जान पड़ती है, पर कार्मण शरीर का ज्ञान होने पर यह समस्या सरलता से सुलझ जाती है। जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक आत्मा अशरीरी भी नहीं होती। आत्मा एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में तभी प्रवेश कर सकती है जबकि कार्मण शरीर आत्मा के साथ लगा रहे। तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म शरीर हैं। अतः सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को रोक नहीं सकती। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है, जैसे–अति कठोर लोह-पिण्ड में अग्नि।

तैजस और कार्मण–ये दो शरीर सभी संसारी जीवों के प्रवाह रूप से सदा होते हैं। औदारिक आदि बदलते हैं। एक साथ एक संसारी जीव के कम से कम दो और अधिक से अधिक चार तक शरीर हो सकते हैं, पांच कभी नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक साथ दो–तैजस और कार्मण।
एक साथ तीन–तैजस, कार्मण और औदारिक। या
तैजस, कार्मण और वैक्रिय।
एक साथ चार–तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय। या
तैजस, कार्मण, औदारिक और आहार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवां बोल

योग पन्द्रह

मनोयोग के चार भेद :	*वचनयोग के चार भेद :*
१. सत्य मनोयोग	*५. सत्य वचनयोग*
२. असत्य मनोयोग	*६. असत्य वचनयोग*
३. मिश्र मनोयोग	*७. मिश्र वचनयोग*
४. व्यवहार मनोयोग	*८. व्यवहार वचनयोग*
काययोग के सात भेदः	
९. औदारिक काययोग	*१३. आहारक काययोग*
१०. औदारिक-मिश्र काययोग	*१४. आहारक-मिश्र काययोग*
११. वैक्रिय काययोग	*१५. कार्मण काययोग*
१२. वैक्रिय-मिश्र काययोग	

शरीर, वचन एवं मन के द्वारा होने वाले आत्म-प्रयत्न को योग कहते हैं। आत्म-प्रयत्न अपना संचालन कार्य पौद्गलिक शक्ति की सहायता से करता है, इसलिए वह पौद्गलिक शक्ति भी योग कहलाती है। जैन परिभाषा में इनको क्रमशः भावयोग एवं द्रव्ययोग कहते हैं। इन दोनों साधनों के बिना शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक कोई भी क्रिया नहीं हो सकती।

मनोयोग–मन के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न मनोयोग है। वह दो प्रकार का है–द्रव्य-मनोयोग और भाव-मनोयोग। मन की प्रवृत्ति के लिए जो मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, उनको कहते है द्रव्य-मनोयोग। उन गृहीत पुद्गलों की सहायता से जो मनन होता है, वह भाव-मनोयोग है। मनोयोग के चार भेद हैं :-

१. सत्य मनोयोग–सत्य विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति।

२. असत्य मनोयोग–असत्य विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति।

३. मिश्र मनोयोग–कुछ अंशों में सत्य और कुछ अंशों में असत्य–ऐसे मिश्र अंशों में होने वाली मन की प्रवृत्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. व्यवहार मनोयोग–मन का जो व्यापार सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है, वह है व्यवहार मनोयोग। आदेश-उपदेश देने का विचार करना व्यवहार मनोयोग है।

वचनयोग–भाषा के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न वचनयोग है। वह दो प्रकार का है–द्रव्य-वचनयोग और भाव-वचनयोग। भाषा वर्गणा के पुद्गलों को द्रव्य-वचनयोग कहा जाता है और जीव का जो भाषा-प्रवर्तक प्रयत्न होता है, वह भाव-वचनयोग कहलाता है। वचनयोग के चार भेद हैं–सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, मिश्र वचनयोग और व्यवहार वचनयोग।

सत्यवचनयोग–सत्य भाषा बोलना। सत्य भाषा के दस भेद हैं:

(१) जनपद सत्य–जिस देश में जैसी भाषा बोलने में काम आती है, उस देश में वह जनपद सत्य है। जैसे–'चोखा' शब्द मारवाड़ में 'अच्छे' के अर्थ में और मेवाड़ में 'चावल' के अर्थ में व्यवहृत है।

(२) सम्मत-सत्य--प्राचीन विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है, उस अर्थ में वह शब्द सम्मत-सत्य है। कमल और मेंढ़क दोनों ही पंक (कीचड़) में उत्पन्न होते हैं तो भी पंकज कमल को ही कहते हैं, मेंढक को नहीं।

(३) स्थापना-सत्य--किसी भी वस्तु की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना स्थापना-सत्य है। 'क'–इस आकार विशेष को ही 'क' कहना। एक के आगे दो शून्य लगाने से सौ और तीन शून्य लगाने पर एक हजार कहना। शतरंज के मोहरों पर हाथी, घोड़ा ऊंट, वजीर आदि कहना ।

(४) नाम-सत्य–गुण विहीन होने पर भी किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर, उस नाम से पुकारना नाम सत्य है। किसी धनहीन का नाम लक्ष्मीपति हो, उसे लक्ष्मीपति कहना।

(५) रूप सत्य--किसी रूप विशेष को धारण करने पर उस व्यक्ति को उस रूप विशेष से पुकारना, जैसे साधु का भेष देखकर किसी व्यक्ति को साधु कहना।

(६) प्रतीति सत्य--(अपेक्षा सत्य)–एक वस्तु की अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बडी, हल्की भारी आदि कहना प्रतीति सत्य है। अनामिका अंगुली को कनिष्ठा की अपेक्षा से बडी और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी कहना।

(७) व्यवहार सत्य, लोक सत्य–जो बात व्यवहार में बोली जाए, वह व्यवहार सत्य है, जैसे पहुंचती तो है गाड़ी और कहते हैं डूंगरगढ़ आ गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग तो स्थिर है, चल नहीं सकता, फिर भी हम कहते हैं--यह मार्ग डूंगरगढ़ को जाता है। जलती तो हैं पर्वत पर पड़ी लकड़ियां, परन्तु हम कहते हैं--पर्वत जल रहा है। पड़ता तो है पानी, हम कहते हैं--परनाला पड़ रहा है।

(८) भाव सत्य--किसी वस्तु में जो भाव मुख्य रूप से मिलता है, उसे लेकर उसका प्रतिपादन करना भाव सत्य है। सभी दृश्यमान पदार्थ पांच वर्ण के होते हैं, फिर भी किसी को काला, किसी को सफेद कहना। जैसे तोते में कई रंग होते हैं, फिर भी उसे हरा कहना ।

(९) योग सत्य--योग अर्थात् सम्बन्ध से किसी व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना योग सत्य है। जैसे अध्यापक को अध्यापन काल के बिना भी अध्यापक कहना।

(१०) उपमा सत्य--किसी एक बात में समानता होने पर एक वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना उपमा सत्य है। उपमा चार प्रकार की होती है--

(क) सत् (विद्यमान) को असत् (अविद्यमान) की उपमा, जैसे--तीर्थंकर में इतना बल होता है कि वे मेरू को दण्ड और पृथ्वी को छत्र बना सकते है, पर वे वैसा करते नहीं। यहां सत् बल की असत् से उपमा है।

(ख) असत् को सत् उपमा, जैसे--सूर्य का पश्चिम दिशा के साथ संगम देखकर पूर्वदिशा ने अपना मुंह काला कर लिया, चूंकि स्त्रियां ईर्ष्या के बिना नहीं मिलतीं। इस वाक्य में असत् ईर्ष्या को सत् ईर्ष्या की उपमा है।

(ग) असत् को असत् की उपमा, जैसे--चन्दन का फूल आकाश कमल के समान सुवासित है। न तो चन्दन के फूल होता है और न आकाश में कमल। यहां असत् से असत् की उपमा है।

(घ) सत् को सत् की उपमा, जैसे--आंखें कमल के समान विकसित हैं।

असत्य वचनयोग-असत्य भाषा बोलना। इसके दस भेद हैं :

(१) क्रोध मिश्रित--जो वचन क्रोध में बोला जाए।

(२) मान मिश्रित--जो वचन मान या अहंकार के आवेश में बोला जाए।

(३) माया मिश्रित--कपट सहित बोलना, दूसरे को धोखा देने के लिए बोलना।

(४) लोभ मिश्रित--लोभ में आकर बोलना।

(५) राग मिश्रित--प्रेम, मोह के वशीभूत होकर बोलना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) द्वेष-मिश्रित–द्वेष सहित बोलना।

(७) हास्य मिश्रित–हंसी में बोलना।

(८) भय-मिश्रित–डरकर बोलना।

(९) आख्यायिक-मिश्रित--कहानी कहते समय असंभव बातें कह देना।

(१०) उपघात-मिश्रित--प्राणियों की हिंसा हो, ऐसी भाषा बोलना।

मिश्र-वचनयोग-मिश्र भाषा बोलना। जिस भाषा में कुछ सत्य और असत्य होता है, उसे मिश्रभाषा कहते हैं। उसके दस भेद हैं :

(१) उत्पन्न-मिश्रित--जितने बच्चों का जन्म हुआ है, उससे न्यूनाधिक बताना।

(२) विगत-मिश्रित--इसी प्रकार मरण के विषय में न्यून और अधिक बताना।

(३) उत्पन्न-विगत-मिश्रित--जन्म-मृत्यु--दोनों के विषय में न्यूनाधिक बताना।

(४) जीव-मिश्रित--जीव-अजीव की विशाल राशि को देख कर कहना--'ओह! यह कितना बड़ा जीवों का समूह है।'

(५) अजीव-मिश्रित--कूड़े कचरे के ढेर को देखकर यह कहना--'ये सब अजीव है।' किन्तु इसमें बहुत से जीव भी हो सकते हैं।

(६) जीवाजीव-मिश्रित--जीव-अजीव की राशि में अयथार्थ रूप से यह बताना कि इसमें इतने जीव हैं और इतने अजीव।

(७) अनन्त-मिश्रित--आलू, ककड़ी आदि का समूह देखकर कहना--'ये सब तो अनन्तकाय हैं।'

(८) प्रत्येक-मिश्रित--ककड़ी, आलू आदि का समूह देखकर कहना--'ये सब प्रत्येककाय हैं।'

(९) अद्धा-मिश्रित–दिन रात आदि काल के विषय में मिश्र वचन बोलना--जैसे दिन उगने वाला है, फिर भी सुप्त पुरुष कहता है--अभी तक तो पहर रात पड़ी है।

(१०) अद्धाद्धा-मिश्रित--दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं। दिन उगा ही है तथापि मालिक नौकर से कहता है--'अरे! दोपहर हो गया और अभी तक दीपक जल रहा है।'

व्यवहार वचनयोग–व्यवहार भाषा--न सत्य, न असत्य–ऐसी भाषा बोलना। आदेश, उपदेश देना। उसके बारह भेद हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) आमंत्रिणी--संबोधन करना, जैसे--हे प्रभो!

(२) आज्ञापनी--आज्ञा देना, जैसे--यह काम करो।

(३) याचनी--याचना करना, जैसे--यह चीज हमें दो।

(४) प्रच्छनी--पूछना, किसी विषय में सन्देह होने पर पूछकर उसकी निवृत्ति करना।

(५) प्रज्ञापनी--प्ररूपणा करना, जैसे--जीव है, अजीव है इत्यादि।

(६) प्रत्याख्यानी--त्याग करना, 'मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊंगा।'

(७) इच्छानुलोमा--इच्छानुसार अनुमोदन करना, जैसे--किसी ने पूछा--मैं अमुक काम करूं या नहीं, तब उसे उत्तर देना-- तू कर, मैं तेरे काम का अनुमोदन करता हूं।

(८) अनभिगृहीता--अपनी सम्मति प्रकट न करना, जैसे किसी ने पूछा--मैं यह काम करूं? तो उत्तर देना, जैसी तुम्हारी इच्छा हो।

(९) अभिगृहीता--सम्मति देना, जैसे-- यह काम तुम्हें करना चाहिए।

(१०) संशयकारिणी--जिस शब्द के अनेक अर्थ हैं, उसका प्रयोग करना, जैसे--सैंधव लाओ। यहां सैंधव शब्द से संदेह हो सकता है--घोड़ा या नमक।

(११) व्याकृत--विस्तार सहित बोलना, जिससे स्पष्ट समझ में आ जाए।

(१२) अव्याकृत--अति गम्भीरता युक्त बोलना, जो कि समझ में आना कठिन हो जाए।

काययोग--काया (शरीर) की प्रवृत्ति के लिए जो शरीर वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं, वे हैं द्रव्य-काययोग और उन पुद्गलों की सहायता से जो जीव की प्रवृत्ति होती है, वह है भाव-काययोग। काययोग के सात भेद हैं :

(१) औदारिक काययोग--औदारिक शरीर वाले मनुष्यों और तिर्यंचों में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जो हलन चलन की क्रिया होती है, वह है औदारिक काययोग।

(२) औदारिक-मिश्र काययोग--यह चार प्रकार से हो सकता है--

(क) मनुष्य एवं तिर्यंच गति में उत्पन्न होने के समय जीव आहार ले लेता है, परन्तु शरीर पर्याप्ति का बन्ध पूर्ण नहीं हो पाता, उस अवस्था में कार्मण काययोग के साथ औदारिक-मिश्र होता है।

(ख) वैक्रियलब्धि वाले मनुष्य और तिर्यंच वैक्रिय रूप बनाते हैं, परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तक वह पूर्ण नहीं होता तब तक वैक्रिय काययोग के साथ औदारिक-मिश्र काययोग होता है।

(ग) विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न योगी आहारक लब्धि को काम में लाता है, परन्तु जब तक आहारक-शरीर पूरा नहीं बन जाता तब तक आहारक काययोग के साथ औदारिक-मिश्र काययोग होता है।

(घ) केवली समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में कार्मण के साथ औदारिक-मिश्र काययोग होता है।

(३) वैक्रिय काययोग--देवता और नारकी में शरीर-पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वैक्रिय-शरीर की तथा मनुष्य और तिर्यंच में लब्धिजन्य वैक्रिय-शरीर की जो क्रिया होती है, वह वैक्रिय काययोग है।

(४) वैक्रिय-मिश्र काययोग–यह दो प्रकार से हो सकता है–

(क) देवता और नारकी में उत्पन्न होने वाला जीव आहार ले लेता है, परन्तु शरीर-पर्याप्ति पूर्ण नहीं बांधता, उस अवस्था में कार्मण-योग के साथ वैक्रिय-मिश्र काययोग होता है।

(ख) औदारिक शरीरवाले मनुष्य और तिर्यंच अपनी विशिष्ट शक्ति से वैक्रिय रूप बनाते हैं और उसको फिर समेटते हैं, परन्तु जब तक औदारिक शरीर पुनः पूर्ण न बन जाए तब तक औदारिक काययोग के साथ वैक्रिय-मिश्र काययोग होता है।

(५) आहारक-काययोग--जब आहारक शरीर पूरा बनकर क्रिया करता है, तब उसको कहते हैं आहारक-काययोग।

(६) आहारक-मिश्र काययोग--जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है, उस समय औदारिक के साथ आहारक-मिश्र काययोग होता है।

(७) कार्मण काययोग--(क) जीव एक भव से दूसरे भव में जाने के लिए ऋजुगति या वक्रगति के द्वारा गमन करता है। एक समय वाली ऋजु गति में जीव अनाहारक नहीं रहता, परन्तु वक्रगति में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्ट दो समय अनाहारक रहता है--किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता। ऐसे समय में होने वाले योग का नाम है, कार्मण काययोग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) जब केवली समुद्घात[1] करते हैं उस समय तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कार्मण-काययोग होता है।

प्रश्न--चार शरीर की भांति तैजस-शरीर का योग क्यों नहीं?

उत्तर--तैजस का कार्मण योग में समावेश हो जाता है। जिस समय औदारीक, वैक्रिय और आहारक होते हैं, उस समय तो वे अपना काम करते ही हैं, परन्तु जिस समय (एक भव से दूसरे भव में जाने के समय) वे नहीं होते तब कार्मण शरीर के द्वारा जो वीर्य--शक्ति का व्यापार होता है, वह तैजस शरीर के द्वारा होता है, इसलिए तैजस काययोग का समावेश कार्मण काययोग में हो जाता है।

प्रश्न--मन क्या है?

उत्तर--जिसके द्वारा मनन किया जाए, सोचा जाए, विचारा जाए, वह मन है। मन पांचों इन्द्रियों के विषय का और अतिरिक्त विषय का ज्ञान करता है। मानस-ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान की तरह वर्तमान तक ही सीमित नहीं, किंतु त्रैकालिक है।

मन का स्वरूप--मन ज्ञान है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण-गुणी से किसी अपेक्षा से भिन्न होता है और किसी अपेक्षा से अभिन्न। यदि गुण गुणी से सर्वथा भिन्न माना जाए तो गुण इस द्रव्य का है, यह संबंध भी नहीं हो सकता और यदि सर्वथा एक ही मान लिया जाए तो यह गुण है, यह गुणी है--ऐसा नहीं कह सकते। अतएव गुणी से गुण कथंचित् भिन्न होता है और कथंचित् अभिन्न होता है। मन आत्मा से कदापि पृथक् नहीं हो सकता, इस अपेक्षा से वह आत्मा से अभिन्न है और वह आत्मा का गुण है इस अपेक्षा से वह आत्मा

---

१. केवली समुद्घात--आयुष्य कर्म की स्थिति और दलिकों से जब वेदनीय कर्म की स्थिति और दलिक अधिक होते हैं तब उनको आपस में बराबर करने के लिए केवली समुद्घात होता है। जब सिर्फ अन्तर्मुहूर्त आयुष्य बाकी रहता है तभी समुद्घात होता है। समुद्घात में आठ समय लगते हैं। पहले समय में आत्म-प्रदेश शरीर के बाहर निकलकर दण्डाकार फैल जाते हैं। वह दण्ड ऊंचाई-निचाई में लोक-प्रमाण होता है, पर उसकी मोटाई शरीर के बराबर होती है। दूसरे समय में उक्त दण्ड पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण फैलकर कपाटाकार (किंवाड के आकार का) बन जाता है। तीसरे समय में कपाटाकार आत्म प्रदेश पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण फैलकर मन्थाकर (मन्थनी के आकार के) बन जाते हैं। चौथे समय में खाली भागों में फैलकर आत्म-प्रदेश समूचे लोक में व्याप्त हो जोते हैं। जिस प्रकार प्रथम चार समयों में आत्म-प्रदेश क्रमशः फैलते हैं वैसे ही अन्त के चार समयों में क्रमशः सिकुड़ते हैं। पांचवें समय में फिर मन्थाकार, छठे समय में कपाटाकार, सातवें समय में दण्डाकर और आठवें समय में पहले की भांति शरीरस्थ हो जाते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से भिन्न है।

मन के विभाग–मन के दो विभाग हैं–द्रव्यमन (objective Mind) और भाव-मन (subjective Mind) द्रव्यमन का सम्बन्ध मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ है और भावमन का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। भावमन या आत्मा अलग-अलग नहीं, दोनों एक है।

जिससे विचार किया जा सके, ऐसी आत्मिक शक्ति को भावमन कहते हैं। विचार करने में सहायक होने वाले सूक्ष्म परमाणुओं को द्रव्यमन कहते हैं। भावमन तो सभी जीवों के होता है, परन्तु बहुत बूढ़ा आदमी पांव से चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे बिना नहीं चल सकता, इसी तरह भावमन होने पर भी द्रव्यमन के बिना 'स्पष्ट विचार' नहीं किया जा सकता। द्रव्यमन की अपेक्षा से ही जीवों के संज्ञी और असंज्ञी--ये दो भेद किये जाते हैं।

पृथ्वीकाय से लेकर चतुरिन्द्रय पर्यन्त जीवों के तो मन होता ही नहीं। पंचेन्द्रिय के मन होता है, पर सबके नहीं। पंचेन्द्रिय के चार वर्ग हैं--देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च। इनमें पहले दो वर्गों में मन उन्हीं के होता है, जो गर्भोत्पन्न हों। सम्मूर्छिम मनुष्य और तिर्यञ्च के मन नहीं होता। कृमि, कीड़े, मकोड़े आदि के भी सूक्ष्म मन विद्यमान है। अतः वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति कर लेते हैं पर यह कार्य केवल देह यात्रोपयोगी है, इससे अधिक नहीं। इसलिए इनको मन रहित कहा जाता है। स-मनस्क प्राणी निमित्त मिलने पर देह यात्रा के अलावा यहां तक विचार कर सकता कि पूर्वजन्म की समस्त घटनावलियों का स्मरण हो सके। अतः उन्हीं को यहां स-मनस्क कहा है। देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही समनस्क हैं।

ज्ञान-क्रम

हमें बाहरी दुनिया का ज्ञान इंद्रियों के द्वारा होता है। इंद्रियां इस ज्ञान को मस्तिष्क तक पहुंचाती है। मस्तिष्क द्रव्यमन को, द्रव्यमन भावमन को और भावमन आत्मा को वह ज्ञान प्रेषित करता है।

{<--आंख}

{<--कान}

{<--नाक}

आत्मा--भावमन--द्रव्यमन--मस्तिष्क-{<--जीभ}<-- बाहरी दुनिया

{<--स्पर्श}

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि द्रव्यमन न हो तो आत्मा को इंद्रियजन्य ज्ञान नही हो सकता। संसारी समनस्क आत्मा के द्रव्यमन अवश्य होगा। वह मुक्त आत्मा के नहीं होता। अतः मुक्त आत्मा को इंद्रिय-ज्ञान भी नहीं होता। वह तो सम्पूर्ण ज्ञानमय है।

मन का व्यापार–स्पर्श, रस, गन्ध, रूप शब्द में इद्रिय-ज्ञान की प्रवृत्ति होने के पश्चात् मन की प्रवृत्ति होती है। जब इन्द्रियां अपने-अपने विषय का ज्ञान कर लेती हैं तब उन विषयों पर मनन करना मन का काम है, इसके सिवाय चिन्तन आदि में मन की प्रवृत्ति स्वतंत्र भी होती है।

मन का परिणाम–मनन करने में सहायता करने वाले पुद्गलों से निष्पन्न द्रव्य-मन अर्थात् पौद्गलिक मन शरीर-व्यापी है और जो मनन करने वाला भावमन अर्थात् जीव-मन है, वह आत्म-प्रदेशव्यापी है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए गए सब विषयों में मन की गति है और वह मन को शरीरव्यापी माने बिना घट नहीं सकती।

मन शरीर के अन्दर सर्वत्र वर्तमान है, किसी खास स्थान में नहीं। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्तमान इद्रियों के ग्रहण किए गए सभी विषयों में मन की गति है--'यत्र पवनस्तत्र मनः।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नौवां बोल

उपयोग बारह

पांच ज्ञान	*तीन अज्ञान*
१. मतिज्ञान	*६. मति अज्ञान*
२. श्रुतज्ञान	*७. श्रुत अज्ञान*
३. अवधिज्ञान	*८. विभंग अज्ञान*
४. मनःपर्यवज्ञान	
५. केवलज्ञान	

चार दर्शन

९. चक्षुःदर्शन	*११. अवधिःदर्शन*
१०. अचक्षुःदर्शन	*१२.केवलःदर्शन*

ज्ञान

उपयोग शब्द का अर्थ है--काम में लाना। ज्ञान एवं दर्शन को काम में लाने का नाम उपयोग है। जानना आत्मा का गुण है। वस्तुओं में दो मुख्य धर्म होते हैं--एकाकारता और भिन्नाकारता। हम एकाकारता से पदार्थों को जानते हैं। उस जानने को दर्शन या सामान्य बोध कहते हैं। भिन्नाकारता से जानने को ज्ञान या साकार-बोध कहते हैं--जैसे हम एक परिषद् या एक बाग को देखते हैं, वह हमारा सामान्य बोध (दर्शन) है और उसके बाद जब हम उसके भिन्न-भिन्न व्यक्ति एवं वृक्षों को जानते हैं, वह हमारा विशेष बोध (ज्ञान) है। अथवा यों समझिए कि हमारे ज्ञान के मुख्य विषय दो हैं--सामान्य और विशेष। विशेष की उपेक्षा कर सामान्य का ज्ञान करना दर्शन है और सामान्य की उपेक्षा कर विशेष का ज्ञान करना ज्ञान है।

ज्ञान के पांच प्रकार हैं--मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यव और केवल।

१. मतिज्ञान--इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला वर्तमान कालवर्ती ज्ञान मतिज्ञान है। उसके चार प्रकार हैं :

१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय ४. धारणा

अवग्रह--विषय (ज्ञेय वस्तु) और विषयी (जानने वाले) का योग सामीप्य या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्ध होने से वस्तु का जो स्वरूपमात्र ग्रहण किया जाता है, उसे अवग्रह कहते हैं। वह दो प्रकार का है--व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।

शब्द आदि के साथ उपकरण-इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, उसे व्यंजन कहते हैं। उसके द्वारा जो शब्द आदि का अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। व्यंजनावग्रह होने के बाद और कहीं-कहीं (चक्षु और मन के बोध में) उसके अभाव में भी व्यंजनावग्रह से कुछ स्पष्ट अनिर्देश्य सामान्य मात्र अर्थ का ग्रहण होता है, जैसे– यह कुछ है--ऐसे जो ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं।

ईहा–अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थों की विशेष आलोचला करने का नाम है--ईहा। अवग्रह से किसी दूरस्थित वस्तु का ज्ञान होने पर संशय होता है कि यह दूरस्थ वस्तु क्या है? मनुष्य है या और कुछ? सिर के हिलने-डुलने एवं हाथ पैरों की क्रिया आदि दृश्यमान लक्षणों से--यह मनुष्य ही होना चाहिए--ऐसा जो ज्ञान होता है, वह ईहा कहलाता है।

अवाय-ईहा के द्वारा जाने पदार्थों में यह यही है, दूसरा नहीं--ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं।

धारणा–अवाय से जाना हुआ पदार्थ ज्ञान जब इतना दृढ़ हो जाए कि कालान्तर में भी उसका विस्मरण न हो, तो उसे धारणा कहते हैं।

अवग्रह आदि के द्योतक दूसरे शब्द :

अवग्रह--प्राथमिक ज्ञान।

अवाय--निश्चय।

ईहा--विचारणा।

धारणा--इन्द्रिय ज्ञान की स्थितिशीलता

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा--ये चारों पर्याय को ग्रहण करते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं। उसे वे पर्याय के द्वारा ही जानते हैं। इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। नेत्र ने आम को ग्रहण किया, इसका अर्थ इतना ही है कि नेत्र ने आम देखा। सम्पूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया। आम में रूप और आकार के सिवाय स्पर्श, रस, गंध आदि अनेक पर्याय हैं, जिनको जानने में नेत्र असमर्थ हैं। इसी प्रकार स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रिय क्रमशः किसी वस्तु के स्पर्श, रस एवं गंध-पर्याय को ही जान सकती हैं। कोई भी एक इंद्रिय उस वस्तु के सम्पूर्ण पर्यायों को नही जान सकती। मन भी किसी वस्तु के खास अंश का ही विचार कर सकता है। एक साथ सम्पूर्ण अंशों का विचार

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

करने में मन भी असमर्थ है।

कान, जीभ, नाक और त्वचा (स्पर्शन)--ये चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं--विषय के साथ संयोग होने से ही ये उसको ग्रहण कर सकती हैं। जब तक शब्द के पुद्गल कान में न पड़ें, चीनी जीभ पर न रखी जाए, पुष्प की गन्ध के पुद्गल नाक से न सूंघें जाएं, जल शरीर को न छुए, तब तक न तो शब्द ही सुनाई देगा, न चीनी का स्वाद ही आएगा, न फूल की सुगन्ध ही ज्ञात होगी और न जल ही ठण्डा या गरम जान पड़ेगा।

आंख और मन अप्राप्यकारी हैं। उनके व्यंजनावग्रह नहीं होता। ये दोनों संयोग के बिना ही उचित सामीप्य मात्र से ग्राह्य विषय को जान लेते हैं। काफी दूरी से भी नेत्र वृक्ष, पर्वत आदि को ग्रहण कर लेता है और मन तो हजारों कोस स्थित वस्तु का भी चिन्तन कर लेता है। अतः नेत्र तथा मन अप्राप्यकारी माने गए हैं।

२. *श्रुतज्ञान*--जो ज्ञान श्रुतानुसारी है--जिससे शब्द-अर्थ का सम्बन्ध जाना जाता है और जो मतिज्ञान के बाद होता है, वह श्रुतज्ञान है। अग्नि शब्द को सुनकर यह जानना कि यह शब्द अग्नि का बोधक है अथवा अग्नि देखकर यह विचार करना कि यह अग्नि शब्द का अर्थ है--इस प्रकार शब्द से अर्थ का और अर्थ से शब्द का ज्ञान करना तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य-अन्य बातों पर विचार करना श्रुतज्ञान है।

मति और श्रुतज्ञान का गाढ़तम सम्बन्ध है। इन दोनों को अलग-अलग करना सम्भव नहीं। ये दोनों कार्य-कारण के रूप में हैं। मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है। मति ज्ञान केवल मनन है और स्वयं के लिए उपयोगी है। वह मनन वर्णमाला के योग से श्रुतज्ञान हो जाता है और आदेश, उपदेश आदि अनेक रूप से दूसरों के लिए उपयोगी बन जाता है। आदेश-उपदेश के सम्बन्ध में जो बोलना होता है वह श्रुतज्ञान नहीं, वह वचनयोग है, किन्तु बोलने का जो अर्थ है वह श्रुतज्ञान है और शब्द उस अर्थ को प्रकट करने का साधन है और वह द्रव्यश्रुत है।

३. *अवधिज्ञान*--इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से जो ज्ञान मूर्त्त-पदार्थों (पुद्गलों) को जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञानी सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गलों को जान लेता है।

४. *मनःपर्यवज्ञान*--इंद्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से जो ज्ञान समनस्क (संज्ञी) जीवों के मन में रहे हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावों को जानता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। मनःपर्यवज्ञानी समनस्क जीवों के मनोगत विचारों को स्पष्ट रूप से द्रव्यमन के सहारे जान सकता है।

५. केवलज्ञान--मूर्त-अमूर्त, सूक्ष्म-स्थूल आदि समस्त पदार्थ और समस्त पर्याय जिससे जाने जाते हैं, वह केवलज्ञान है।

अज्ञान

अज्ञान तीन प्रकार के हैं--मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-अज्ञान (अवधि-अज्ञान)। यहां अज्ञान शब्द में होने वाले 'नञ् समास' का अर्थ अभाव नहीं, पर कुत्सा है।

प्रश्न--ज्ञान कुत्सित कैसे हो सकता है?

उत्तर--ज्ञान निन्दित नहीं, पर मिथ्यात्व के सहयोग से ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है, नीच के सम्पर्क से उत्तम पुरुष भी नीच कहलाता है।

ज्ञान और अज्ञान में सिर्फ पात्र का भेद है। पात्र के आधार पर ही ज्ञान के दो भेद किए गए हैं। यदि पात्र सम्यक्त्वी हो तो उसका ज्ञान ज्ञान कहलाता है। यदि पात्र मिथ्यात्वी हो तो उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है। वे दोनों ही ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से ही प्राप्त होते हैं, इसलिए दोनों ही उपादेय हैं, ग्रहण करने योग्य हैं। दोनों का ही गुण जानने का है। एक ऐसा भी अज्ञान है जो छोड़ने योग्य है। उस (अज्ञान) का अर्थ है, न ज्ञान--अज्ञान अर्थात् ज्ञान का आवरण। यह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है और इससे ज्ञान का विकास रुकता है।

मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-अज्ञान का अर्थ पूर्वोक्त मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के समान ही है।

मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान--ये दोनों विशिष्ट योगियों के होते हैं। वे (विशिष्ट योगी) कभी मिथ्यात्वी हो नहीं सकते। अतःअज्ञान के भेद सिर्फ तीन ही होते हैं, पांच नहीं।

दर्शन

सामान्य बोध--अनाकार उपयोग को दर्शन कहते हैं। किसी वस्तु को जानने के दो रास्ते हैं--एकरूपता, अनेकरूपता। जब हम एक वस्तु को एक ही रूप से जानते हैं तब हमारा ज्ञान सामान्य-ग्राही होने के कारण सामान्य बोध अर्थात् दर्शन कहलाता है। जब हम एक ही वस्तु को अनेक रूप से--भिन्न-भिन्न रूप से जानते हैं तब हमारा वही ज्ञान भिन्न रूपग्राही होने के कारण विशेष बोध अर्थात् ज्ञान कहा जाता है। दर्शन के चार भेद हैं--चक्षःदर्शन, अचक्षुःदर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

१. *चक्षुःदर्शन*–चक्षुःदर्शनावरणीय-कर्म का क्षयोपशम होने पर चक्षु के द्वारा पदार्थों का जो सामान्य बोध होता है, उसे चक्षुःदर्शन कहते हैं।

२. *अचक्षुःदर्शन*–अचक्षुःदर्शनावरणीय-कर्म का क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्रेन्द्रिय तथा मन के द्वारा पदार्थों का जो सामान्य बोध होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

३. *अवधिःदर्शन*–अवधिदर्शनावरणीय-कर्म का क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। यह अवधिज्ञान का सहवर्ती है।

४. *केवलःदर्शन*–केवलदर्शनावरणीय-कर्म का क्षय होने पर आत्मा को जो सर्व पदार्थों का सामान्य बोध होता है, उसे केवलदर्शन कहते हैं। यह केवलज्ञान का सहवर्ती है।

प्रश्न--चक्षुःदर्शन और अचक्षुःदर्शन न कहकर केवल इन्द्रिय-दर्शन कह देते तो एक ही में पांचों इन्द्रियों का समावेश हो जाता । यदि यह अभिप्रेत नहीं था तो पांचों इन्द्रियों के पांच भेद क्यों नहीं किए गए?

उत्तर--दर्शन की व्यवस्था वस्तु के सामान्य और विशेष--इन दो स्वभावों के आधार पर हुई है। चक्षुःदर्शन यद्यपि सामान्य बोध है फिर भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा वह अधिक विश्वस्त है। इसमें विशेषता की कुछ झलक आ जाती है, उसी को ध्यान में रखकर चक्षुःदर्शन को अन्य इंद्रियों से भिन्न रखा गया है।

प्रश्न--मनःपर्यवज्ञान की भांति मनःपर्यवदर्शन क्यों नहीं?

उत्तर--मनःपर्यवज्ञान सिर्फ मनोगत पर्यायों का ही ज्ञान कराता है। उसका विषय मानसिक अवस्थाएं हैं, जो विशेष ही हैं। अतः सामान्य बोध अर्थात् मनःपर्यवदर्शन नहीं हो सकता ।

प्रश्न--इन्द्रियज्ञान, चक्षुः-अचक्षुः-दर्शन, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इंद्रियप्राण में क्या अन्तर है?

उत्तर--इन्द्रियज्ञान दो प्रकार का होता है–साकार और अनाकार। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह साकार होता है और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो बोध होता है, वह अनाकार होता है। पर्याय (अवस्था) सहित द्रव्य का जो ज्ञान किया जाता है, वह साकार होता है और पर्याय-रहित द्रव्य का जो ज्ञान किया जाता है, वह अनाकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है।

स्पर्श आदि का विशेष बोध जिससे किया जाता है, वह इंद्रिय विशेष बोध है और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। जिससे स्पर्श आदि का सामान्य-बोध किया जाता है वह चक्षुः-अचक्षुःदर्शन है और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।

जन्म-धारण के समय जिन पुद्गलों के द्वारा इन्द्रियों का आकार बनता है, वह इंद्रिय-पर्याप्ति है और नाम-कर्म का उदय है।

ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति में जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय का क्षय-क्षयोपशम अपेक्षित है, वैसे ही अन्तराय का क्षय-क्षयोपशम भी अपेक्षित है।

इन्द्रिय-प्राण इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति है। वह अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है।

प्रश्न--शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल और काययोग में क्या अन्तर है?

उत्तर--शरीर, यह औदारिक आदि वर्गणा से होने वाली पौद्गलिक रचना है और जितना दृश्यमान है उतने स्थान में है।

स्पर्शनेन्द्रिय–इसके दो भेद हैं–द्रव्य और भाव। द्रव्य-स्पर्शन-इंद्रिय अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी है और वह नाम-कर्म के उदय से होती है। भाव -स्पर्शन-इन्द्रिय स्पर्शन को जानने की शक्ति है और वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है। स्पर्शन-इन्द्रिय समूचे शरीर में फैली हुई है। इससे प्राणी को स्पर्श का अनुभव होता है। शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं, जिसमें स्पर्शन-इन्द्रिय वर्तमान न हो। शरीर या काय के बिना स्पर्शन-इंद्रिय टिक नहीं सकती। फिर भी शरीर और स्पर्शन-इंद्रिय दो भिन्न वस्तुएं हैं।

कायबल–यह शरीर को प्रवृत्त करने वाली शक्ति है। यह अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

काययोग–यह हलन-चलन की प्रवृत्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसवां बोल

कर्म आठ

१. ज्ञानावरणीय	*५. आयुष्य*
२. दर्शनावरणीय	*६. नाम*
३. वेदनीय	*७. गोत्र*
४. मोहनीय	*८. अन्तराय*

जीव चेतनामय अरूपी पदार्थ है। उसके साथ लगे हुए सूक्ष्म मलावरण को कर्म कहते हैं। कर्म पुद्गल है, जड़ है। कर्म के परमाणुओं को कर्मदल कहते हैं। आत्मा पर रही हुई राग-द्वेष रूपी चिकनाहट और योगरूपी चंचलता के कारण कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। कर्मदल आत्मा के साथ अनादिकाल से चिपके हुए हैं। उनमें से कई अलग होते हैं तो कई नये चिपक जाते हैं। इस प्रकार यह क्रिया बराबर चालू रहती है।

मित्थात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय और योग के कारण आत्मा कर्म-वर्गणा ग्रहण करती है और यही कर्म है। कर्म-वर्गणा एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज है, जिसे सर्वज्ञ या अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं।

कर्म की परिभाषा

शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और सम्बन्धित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं (शुभाशुभ रूप से उदय में आते हैं), आत्मा द्वारा गृहीत उन पुद्गलों का नाम है--कर्म। यद्यपि ये पुद्गल एकरूप हैं तो भी ये जिस आत्म-गुण को आवृत, विकृत या प्रभावित करते हैं, उसके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है।

आत्मा के गुण आठ हैं--केवलज्ञान, केवलदर्शन,आत्मिक सुख, क्षायक-सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्तिकपन, अगुरुलघुपन और लब्धि।

आत्मा का पहला गुण है--केवलज्ञान। उसको रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है--ज्ञानावरणीय कर्म। संसार में जितनी आत्माएं हैं, उन सबमें अनन्तज्ञान विद्यमान है, परन्तु जब तक ज्ञानावरणीय-कर्म क्षीण नहीं होता तब तक वह ज्ञान कर्म से आवृत रहता है। कर्म के क्षीण होने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है।

आत्मा का दूसरा गुण है--केवलदर्शन। यह भी ज्ञान की भांति सब आत्माओं में विद्यमान है । इस द्वितीय गुण को आवृत करनेवाले कर्म-पुद्गलों का नाम है--दर्शनावरणीय कर्म। इस कर्म के क्षीण होने से ही केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

आत्मा का तीसरा गुण है--आत्मिक सुख। इसको रोकने वाले पुद्गलों का नाम है--वेदनीयकर्म

आत्मा का चौथा गुण है--सम्यक्-श्रद्धा। इसको रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है--मोहनीय कर्म।

आत्मा का पांचवां गुण है--अटल अवगाहन। इस शाश्वत स्थिरता को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है--आयुष्यकर्म।

आत्मा का छठा गुण है--अमूर्तिकपन। इसको रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है--नामकर्म। नामकर्म के उदय से ही शरीर मिलता है। शरीर-समाविष्ट अमूर्त आत्मा भी मूर्त-सी प्रतीत होने लगती है।

आत्मा का सातवां गुण है--अगुरुलघुपन (न छोटापन, न बड़ापन)। इसको रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है--गोत्र-कर्म।

आत्मा का आठवां गुण है--लब्धि। इसको रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है--अन्तराय-कर्म।

कर्म-वर्गणा के पुद्गल (कर्म-योग्य पुद्गल) चतुःस्पर्शी होते हैं, अष्ट-स्पर्शी नहीं।

प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले विश्व के समस्त पुद्गलों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. *अष्ट-स्पर्शी*--वे पुद्गल, जिनमें वर्ण, गन्ध, रस के साथ हल्कापन, भारीपन आदि आठों स्पर्श हों।

२. *चतुःस्पर्शी*--वे पुद्गल, जिनमें वर्ण, गन्ध, रस; तथा शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष--ये चार स्पर्श हों।

कर्म के दो वर्ग

आत्मा के साथ चिपकनेवाले कर्म-पुद्गलों को दो भागों में बांटा गया है--घाति-कर्म और अघाति-कर्म।

घातिकर्म--जो कर्म-पुद्गल आत्मा से चिपककर आत्मा के मुख्य या स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं--उनका हनन करते हैं, उनको घातिकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। उन कर्मों का मूलोच्छेद होने से ही आत्मा सर्वज्ञ या सर्वदर्शी बन सकती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय--ये चार घाति-कर्म कहलाते हैं।

अघातिकर्म--जो कर्म आत्मा के मुख्य गुणों का घात नहीं करते, उनको हानि नहीं पहुंचाते, वे अघाति-कर्म कहलाते हैं। घाति-कर्मों के अभाव में ये कर्म पनपते नहीं, उसी जन्म में शेष हो जाते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र--ये चार अघातिकर्म हैं।

कर्म और उनका कार्य

१. ज्ञानावरणीयकर्म आंख की पट्टी के समान है। जिस प्रकार आंख के आगे पट्टी बांधने से देखने में रुकावट होती है, वैसे ही ज्ञानावरणीयकर्म जानने में रुकावट डालता है।

२. दर्शनावरणीयकर्म प्रतिहारी के समान है। जैसे प्रतिहारी राजा के दर्शन में रुकावट डालता है, वैसे ही दर्शनावरणीयकर्म देखने में बाधा डालता है।

३. वेदनीयकर्म मधुलिप्त तलवार की धार के समान है। जिस प्रकार मधु से लिप्त तलवार की धार को चाटने से स्वाद मालूम पड़ता है, उसके समान सातावेदनीय है और जीभ कट जाती है, उसके समान असातावेदनीय है।

४. मोहनीयकर्म मद्यपान करने के समान है। जिस प्रकार मद्यपान करने वाले को सुध-बुध नहीं रहती है, वैसे ही मोहनीयकर्म के उदय से जीवों की तत्त्व-श्रद्धा विपरीत होती है और विषय-भोगों में आसक्ति रहती है।

५. आयुष्यकर्म खोड़े (बेड़ी) के समान है। जिस प्रकार काठ के खोडे में दिया हुआ आदमी उसको तोड़े बिना निकल नहीं सकता, वैसे ही आयुष्य-कर्म को पूरा भोगे बिना जीव एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता और आयुष्य-कर्म का क्षय किये बिना मोक्ष भी नहीं पा सकता।

६. नामकर्म चित्रकार के समान है। जिस प्रकार चित्रकार नये-नये चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही नामकर्म के उदय से तरह-तरह के शरीर, नाना प्रकार के रूप और तरह-तरह के अंगोपांग आदि का निर्माण होता है।

७. गोत्रकर्म कुम्भकार के समान है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े जैसे चाहे वैसे ही घड़ो को तैयार करता है, वैसे ही गोत्र-कर्म के उदय से जीव अच्छी दृष्टि से देखे जाने वाले, तुच्छ दृष्टि से देखे जानेवाले ऊंच-नीच आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनते हैं।

८. अन्तरायकर्म राजा के भण्डारी (कोषाध्यक्ष) के समान है। जिस प्रकार राजा का आदेश होने पर भण्डारी के बिना दिये वह वस्तु नहीं मिलती, वैसे ही अन्तरायकर्म दूर हुए बिना इच्छित वस्तु नहीं मिलती।

कर्म-बन्ध के हेतु–पांच आश्रव

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग कर्मबंध के हेतु पांच आश्राव हैं।

इन कारणों में प्राणियों की समस्त क्रियाओं का वर्गीकरण किया हुआ है। साधारण बुद्धि बाले व्यक्ति इन्हें यथार्थ रूप में हृदयंगम नहीं कर सकते। इसलिए कर्म-बन्ध के हेतुओं का विस्तृत वर्णन करना आवश्यक है। प्रत्येक कर्म-बन्ध के पृथक्-पृथक् कारण ये हैं–

ज्ञानावरणीय कर्म-बन्ध के कारण

१. ज्ञान-प्रत्यनीकता--ज्ञान या ज्ञानी से प्रतिकूलता रखना।

२.ज्ञान-निह्नव--ज्ञान तथा ज्ञानदाता का अपलपन करना अर्थात् ज्ञानी को कहना कि ज्ञानी नहीं है।

३. ज्ञानान्तराय–ज्ञान को प्राप्त करने में अन्तराय (विघ्न) डालना।

४. ज्ञान-प्रद्वेष--ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना

५. ज्ञान-आशातना–ज्ञान या ज्ञानी की अवहेलना करना।

६.ज्ञान-विसंवादन–ज्ञान या ज्ञानी के वचनों में विसंवाद अर्थात् विरोध दिखाना।

दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध के कारण

१. दर्शन-प्रत्यनीकता--दर्शन या दर्शनी से प्रतिकूलता रखना।

२.दर्शन-निह्नव–दर्शन या दर्शनदाता का अपलपन करना अर्थत् दर्शनी को कहना कि वह दर्शनी नहीं है।

३. दर्शनान्तराय–दर्शन को प्राप्त करने में अन्तराय (विघ्न) डालना।

४. दर्शन-प्रद्वेष--दर्शन या दर्शनी से द्वेष रखना।

५. दर्शन-आशातना--दर्शन या दर्शनी की अवहेलना करना।

६.दर्शन-विसंवादन--दर्शन या दर्शनी के वचनों में विसंवाद अर्थात् विरोध दिखाना।

वेदनीय कर्म-बन्ध के कारण

वेदनीय कर्म के दो प्रकार है-- सातावेदनीय और असातावेदनीय।

सातावेदनीय कर्म-बन्ध के कारण –

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्राण[1], भूत, जीव, सत्त्वों को अपनी असत् प्रवृत्ति से दुःख न देना।

२. प्राण, भूत , जीव, सत्त्वों को हीन न बनाना।

३. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों के शरीर को हानि पहुंचाने वाला शोक पैदा न करना।

४. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को न सताना।

५. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों पर लाठी आदि से प्रहार न करना।

६. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को परितापित न करना।

उक्त कार्मों के करने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

मोहनीय कर्म-बन्ध के कारण

तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ, तीव्र दर्शनमोह, तीव्र चारित्र-मोह, तीव्र मिथ्यात्व।

हास्य, रति आदि तीव्र नो-कषाय।

आयुष्य कर्म-बन्ध के कारण

(क) नरक-आयु बन्धने के चार कारण हैं :–

१. महा आरम्भ २. महा परिग्रह ३. पंचेन्द्रिय-वध ४. मांसाहार।

(ख) तिर्यञ्च-आयु बन्धने के चार कारण हैं:–

१. माया करना २. गूढ़माया (एक कपट को ढंकने के लिए दूसरा छल) करना ३. असत्य वचन बोलना ४. कूट तोल-माप करना।

(ग) मनुष्य-आयु बन्धने के चार कारण हैं:–

१. सरल-प्रकृति होना २. प्रकृति विनीत होना, ३. दया के परिणाम रखना ४. ईर्ष्या न करना।

(घ) देव-आयु बन्धने के चार कारण हैं :–

१. सराग-संयम–राग युक्त संयम का पालन (आयुष्य का बन्ध न तो राग से होता है और न संयम से होता है, वह तो सरागी संयमी की तपश्चर्या से होता है। अभेदोपचार से उसे सराग-संयम कहा गया है)।

२. संयमासंयम–श्रावकपन का पालन।

---

१ प्राणाः द्वित्रिःचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः।

जीवाः पंचेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वाः उदीरिता।।

दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव 'प्राण', वनस्पति के जीव 'भूत', पांच इन्द्रिय वाले सभी प्राणी 'जीव' और शेष चार स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के) जीव 'सत्त्व' कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. बाल-तपस्या--मिथ्यात्वी की तपस्या।

४. अकाम-निर्जरा--मोक्ष की इच्छा के बिना की जाने वाली तपस्या।

नाम कर्म-बन्ध के कारण

नाम कर्म के दो प्रकार हैं--शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म।

शुभ नामकर्म बन्ध के चार कारण हैं--

१. काय-ऋजुता--दूसरों को ठगने वाली शारीरिक चेष्टा न करना।

२. भाव-ऋजुता--दूसरे को ठगने वाली मानसिक चेष्टा न करना।

३. भाषा-ऋजुता--दूसरे को ठगने वाली वचन की चेष्टा न करना।

४. अविसंवादन--योग--कथनी और करनी में विसंवादन न करना।

उक्त कार्यों को करना अशुभ नामकर्म बंधने के कारण हैं।

गोत्र कर्म-बन्ध के कारण

गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं--उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्म ।

गोत्र कर्म-बन्ध के आठ कारण --

१. जाति २. कुल ३. बल ४. रूप ५. तपस्या ६. श्रुत (ज्ञान) ७. लाभ ८. ऐश्वर्य--इनका मद--अहं न करना उच्च गोत्र-बन्ध के कारण हैं और इनका मद--अहं करना नीच गोत्र-बन्ध के कारण हैं।

अन्तराय कर्म-बन्ध के कारण

१. दान २. लाभ ३. भोग ४. उपभोग ५. वीर्य (उत्साह या सामर्थ्य)--उन सब में बाधा डालना।

कर्मों की दस मुख्य अवस्थाएं

१. बन्ध २. उद्वर्तन ३. अपवर्तन ४. सत्ता ५. उदय ६. उदीरणा ७. संक्रमण ८. उपशमन ९. निधत्ति १०. निकाचना।

१. बन्ध--जीव के असंख्य प्रदेश हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जीव के असंख्यात प्रदेशों में कम्पन पैदा होता है। इस कम्पन के फलस्वरूप जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश हैं उस क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म-योग्य पुद्गल जीव के एक-एक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं, बन्ध जाते हैं। जीव-प्रदेशों के साथ इन कर्म-पुद्गलों का इस प्रकार चिपक जाना (बन्ध जाना) ही बन्ध कहलाता है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा दूध और पानी का, अग्नि और तप्त लोह-पिण्ड का। इस प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त कार्मण-वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। बन्ध के चार भेद हैं:--

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) प्रकृति-बन्ध–जीव की शुभ प्रवृत्ति के समय ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति के समय ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल अशुभ होते हैं। कर्म-पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर, ज्ञान को रोकने का स्वभाव, दर्शन को रोकने का स्वभाव, इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव का होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है।

(ख) स्थिति-बंध–जीव के द्वारा जो शुभाशुभ कर्म-पुद्गल ग्रहण किये गये हैं, वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को कायम रखते हुए जीव-प्रदेशों के साथ बन्धे रहेंगे, उसके बाद वे शुभ या अशुभ रूप में उदय आयेंगे, इस प्रकार से कर्मों का निश्चित काल तक के लिए जीव के साथ बंध जाना--स्थिति-बन्ध है।

(ग) अनुभाग-बन्ध (रस-बन्ध)--कुछ कर्म तीव्र रस से बंधते हैं और कुछेक मन्द रस से। शुभाशुभ कार्य करते समय जीव की जितनी मात्रा में तीव्र या मन्द प्रवृत्ति रहती है, उसी के अनुरूप कर्म भी बंधते हैं और उनमें फल देने की वैसी ही शक्ति होती है।

(घ) प्रदेश-बन्ध --भिन्न-भिन्न कर्म-दलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश-बन्ध है। ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल-राशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिणाम में बंट जाती है--यह परिणाम विभाग ही प्रदेश-बन्ध कहलाता है।

जीव संख्यात परमाणुओं से बने हुए कर्म-पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता, परन्तु अनन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है।

२. उद्वर्तन–स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध के बढ़ने को उद्वर्तना कहते हैं।

३. अपवर्तन–स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध के घटने को अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना और अपवर्तना के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई देर में, किसी का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द ।

४. सत्ता–बंधने के बाद कर्म का फल तत्काल नहीं मिलता, कुछ समय बाद मिलता है। कर्म जब तक फल न देकर अस्तित्व रूप में रहता है तब तक उसे सत्ता कहते हैं।

५. उदय–स्थिति-बन्ध पूर्ण होने पर जब कर्म शुभ या अशुभ रूप में भोगे जाते हैं तब उसे उदय कहते हैं। वह (उदय) दो प्रकार का होता हे--फलोदय और प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है, उसे फलोदय या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाकोदय कहते हैं। जो केवल आत्मा-प्रदेशों में भोगा जाता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

६. *उदीरणा*--अबाधा-काल पूर्ण होने पर, जो कर्म-दलिक बाद में उदय में आने वाले हैं, उनको प्रयत्न-विशेष से खींचकर उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। उदीरणा के लिए अपवर्तना के द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है।

७. *संक्रमण*--जिस प्रयत्न से कर्म की उत्तर-प्रकृतियां अपनी सजातीय प्रकृतियों में बदल जाती हैं, उसे संक्रमण कहते हैं। एक कर्म-प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म-प्रकृति में परिवर्तित होना संक्रमण है। क्रोध का मान के रूप में और मान का क्रोध के रूप में बदल जाना संक्रमण है। आयुष्य कर्म का संक्रमण नहीं होता। दर्शन-मोह और चारित्र-मोह का परस्पर संक्रमण नहीं होता।

८. *उपशमन*--मोह-कर्म की सर्वथा अनुदयावस्था को उपशम कहते हैं। जिस समय मोहनीय-कर्म का प्रदेशोदय ओर विपाकोदय नहीं रहता, उस अवस्था को उपशम कहते हैं।

९. *निधत्ति*--जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन के सिवाय संक्रमण आदि नहीं हो, उसे निधत्ति कहते हैं।

१०. *निकाचना*--जिन कर्मों का फल निश्चित स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है, जिनके विपाक को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता, वे निकाचित-कर्म कहलाते हैं। इनका आत्मा के साथ गाढ़ सम्बन्ध होता है। इनके उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा आदि नहीं होते।

जैन सिद्धान्त में कर्मवाद का वही स्थान है, जो व्याकरण में कारक का है। संसारी प्राणियों की विविधता का कारण कर्म ही है। कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है, कोई आसक्त है, कोई विरक्त है, किसी का जन्म होता है, किसी की मृत्यु होती है, किसी का संयोग, किसी का वियोग, किसी का सत्कार, किसी का तिरस्कार। विद्वान् धनहीन है और मूर्ख धनी है। कोई लेखक है, कवि नहीं। कोई कवि है, वक्ता नहीं । कोई लेखक है, कवि भी है, वक्ता भी है। कोई योग्यता न रखते हुए भी स्वामी है और योग्यता वाला सेवक है--इत्यादि अगणित विविधताएं हैं। इनका आन्तरिक हेतु कर्म है। परिस्थिति के सहयोग से ये प्रकट होकर जीवन को प्रभावित करते हैं।

अमूर्त और मूर्त का सम्बन्ध कैसे?

कर्म आत्मा पर अनादिकाल से चिपके हुए हैं। कोई भी संसारी आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म के बिना एक क्षण भी संसार में नहीं टिकती। जितने कर्म-पुद्गल आत्मा से चिपकते हैं, वे सब अवधि-सहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल मिलकर नहीं रहता। फलतः हमें यह कहना होगा कि आत्म से कर्मों का सम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि और भिन्न-भिन्न व्यक्ति रूप से सादि है।

तर्कशास्त्र का यह एक नियम है कि जो अनादि होता है, उसका कभी अन्त नहीं होता। यह हम जानते हैं कि आत्माएं अनादिकालीन कर्म-बन्धन तोड़कर मुक्त होती हैं। इसका समाधान इन शब्दों में हो चुका है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है, व्यक्तिरूप से नहीं।

एक प्रश्न है--अचेतन एवं रूपी कर्म-पुद्गल चेतन एवं अरूपी आत्मा से कैसे संबंध करते हैं। यद्यपि आत्मा स्वरूपतः अमूर्त है, तथापि संसारी आत्मा का स्वरूप कर्मावृत होने के कारण पूर्णरूपेण प्रकट नहीं होता। अवएव संसारस्थ आत्माएं कथंचित् (किसी दृष्टिकोण से) मूर्त भी मानी जाती हैं। कर्म का सम्बन्ध इस कोटि की आत्माओं से ही होता है। जो आत्माएं सर्वथा अमूर्त--कर्म-मुक्त हो जाती हैं, उनसे फिर कर्म सम्बन्ध नहीं कर पाते। इसका सार इतना ही है कि कर्म-युक्त आत्मा के कर्म लगते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि आत्मा के पहले-पहल कर्म कैसे लगे? पर जब हम आत्मा एवं कर्म की पहल निकाल ही नहीं सकते, क्योंकि उनका प्रारम्भ है ही नहीं, तब श्रीगणेश कैसे बतलाएं ? इसका समुचित उत्तर यही है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है अर्थात् वह सम्बन्ध न तो पीछे है और न पहले।

यदि कर्मों से पहले आत्मा को मानें तो फिर उसके कर्म लगने का कोई कारण नहीं बनता। कर्मों को भी आत्मा से पहले नहीं मान सकते क्योंकि वे किए बिना होते नहीं और आत्मा के बिना उनका किया जाना सर्वथा असंभव है। इन दोनों का एक साथ उत्पन्न होना भी अयौक्तिक है। पहले तो उन्हें उत्पन्न करने वाला ही नहीं। दूसरे में कल्पना करो कि यदि ईश्वर को इनका उत्पादक मान लें तो भी हमारी गुत्थी सुलझती नहीं। प्रत्युत इतनी विकट समस्याएं हमारे सामने आ खड़ी होती हैं कि उनका हल नहीं निकाला जा सकता। ईश्वर ने क्या असत् से सत् का निर्माण किया या सत् का परिवर्तन किया ? असत् से सत् और सत् से असत् नहीं हो सकता, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। सत् का रूपान्तरण भी क्यों किया एवं क्या से क्या किया ? पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या था और बाद में क्या किया ? इनका कोई भी सन्तोषजनक समाधान नहीं हो सकता। अतः इनका अनादि (अपश्चानुपूर्वी) सम्बन्ध ही संगत एवं युक्तियुक्त है।

प्रश्न—आत्मा अमूर्त (अरूपी) है और कर्म मूर्त (रूपी) है। फिर इन दो विरोधी वस्तुओं का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर—अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का बन्धन नहीं हो सकता, परन्तु संसारी आत्मा के एक-एक आत्म-प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-परमाणु चिपके हुए होते हैं, अतः आत्मा अमूर्त होती हुई भी कार्मण शरीर के सम्बन्ध से मूर्तवत् होती है। वह कार्मण-शरीर प्रवाह रूप से अनादि सम्बन्ध वाला है। उस कार्मण-शरीर की विद्यमानता में ही आत्मा के कर्म-परमाणु चिपकते हैं। जब कार्मण-शरीर का नाश हो जाता है तब आत्मा अमूर्त हो जाती है और ऐसी आत्मा को कर्म भी नहीं पकड़ सकते। तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा में कर्म-बन्ध का कारण विद्यमान रहता है। तब तक कार्मण-शरीर के द्वारा कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यद्यपि मुक्त आत्माएं भी पुद्गल-व्याप्त आकाश में स्थित हैं, किन्तु उन आत्माओं में कर्म-बन्ध के कारणों का अत्यन्ताभाव है, इसलिए पुद्गल वहां रहते हुए भी उन्मुक्त आत्माओं से सम्बन्ध नहीं कर सकते और बिना सम्बन्ध के वे आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते।

जो पुद्गल आत्म-प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण नहीं किए जाते, यों ही लोक में फैले हुए हैं, उनमें फलदान की शक्ति नहीं होती। संसारी आत्माओं में कर्म-बन्ध का कारण विद्यमान होता है, अतः कर्म-पुद्गल आत्मा के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तथा उन पुद्गलों का आत्मा के साथ एकीभाव होने से उनमें फल देने की शक्ति आ जाती है और वे यथासमय अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। अतः आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का मुख्य हेतु आत्मा की तदनुकूल प्रवृत्ति ही है।

आत्मा के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध प्रवाहरूप से है, व्यक्तिरूप से नहीं, क्योंकि सभी कर्म अवधि-सहित होते हैं। कर्म-पुद्गलों में कोई एक भी ऐसा नहीं, जो अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ हो। सबसे उत्कृष्ट स्थिति मोहनीय कर्म की है। वह भी उत्कृष्ट रूप से ७० क्रोड़ाक्रोड़ सागर तक आत्मा के साथ सम्बन्धित रह सकता है, उससे अधिक नहीं। इसलिए आत्मा की मुक्ति होने में कोई भी आपत्ति नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-बन्ध सहेतुक है। जब तक कर्म-बन्ध का कारण विद्यमान रहता है तब तक कर्म बंधता जाता है और अपना फल देने की अवधि पूर्ण होने पर अलग हो जाता है। जब आत्मा कर्म-बंध का द्वार रोक देती है, कर्म-बंध के कारणभूत आश्रव का निरोध कर देती है, उस समय कर्म का बन्ध रुक जाता है और जो कर्म पहले के बंधे हुए होते हैं, वे उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं या उदीरणा से उदय में लाकर नष्ट कर दिये जाते हैं और तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न--कर्म जड़ हैं। वे यथोचित फल कैसे दे सकते हैं?

उत्तर--यह ठीक है कि कर्म-पुद्गल यह नहीं जानते कि अमुक आत्मा ने यह काम किया है, अतः उसे यह फल दिया जाए। परन्तु आत्मक्रिया के द्वारा जो शुभाशुभ पुद्गल आकृष्ट होते हैं, उनके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्मा को उसके अनुसार फल मिल जाता है। शराब को नशा करने की ताकत का कब अनुभव होता है और विष ने मारने की बात कब सीखी ? फिर भी शराब पीने से नशा होता है और विष खाने से मृत्यु। पथ्य भोजन आरोग्य देना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती, फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य-लाभ होता है और औषधि-सेवन से रोग मिटता है। बाह्य रूप से ग्रहण किए हुए पुद्गलों का जब इतना असर होता है तो आन्तरिक प्रवृत्ति से गृहीत कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर असर होने में सन्देह कैसा ? उचित साधनों के सहयोग से विष और औषधि की शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है, वैसे ही तपस्या आदि साधनों से कर्म की फल देने की शक्ति में भी परिवर्तन किया जा सकता है। अधिक स्थिति के एवं तीव्र फल देने वाले कर्म में भी उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति में अपवर्तना के द्वारा न्यूनता की जा सकती है।

प्रश्न--प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है, दुःख नहीं। तो फिर वह पाप का फल स्वयं क्यों भोगेगी?

उत्तर--इस पर इतना कहना काफी होगा कि सुख और दुःख आत्मा के पुण्य-पाप के अनुसार मिलते हैं या चाहने के अनुसार ? यदि चाहने के अनुसार मिलें तब तो कर्म कोई चीज ही नहीं। जो कुछ इच्छा की, वही मिल गया। ऐसी हालत में तो बस इच्छा ही सार है, चाहे उसे चिन्तामणि कहें, चाहे कल्पवृक्ष। यदि कर्म कोई वस्तु है तब तो उसके अनुसार ही फल मिलेगा। अच्छे कर्म का अच्छा फल होगा, बुरे कर्म का बुरा। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'--इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोटे-से वाक्य से यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसा कर्म होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। जैसी बुद्धि है, होती वैसा ही काम किया जाता है और जैसा काम किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। अतएव कर्म का फल भोगने में किसी न्यायाधीश की जरूरत नहीं। एक मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों के बल पर हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार-दुराचार-सेवन करता है। न्यायाधीश का क्या काम बिगड़ता था कि उसे कर्म का फल देने को इन निंदनीय कार्यों में प्रवृत्त करना पड़ा ? न्यायाधीश तो बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए कर्म का फल देता है तो फिर हिंसा, चोरी आदि से कर्म-फल भुगताने का तरीका क्यों पसन्द किया गया। उस परमदयालु न्यायाधीश ईश्वर के द्वारा ?

जैन-दर्शन के अनुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है। सृष्टि का न तो कभी आरम्भ ही हुआ और न कभी अन्त ही होगा। इस सृष्टि को उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है। अन्य दर्शनों के अनुसार संसार सृष्टि है--एक कार्य है, इसलिए उसका कर्त्ता भी अवश्य है और उसी का नाम ईश्वर है। इस तर्क को मान लेने से कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। जैसे--

यदि प्रत्येक कार्य का संचालक ईश्वर हो तो जीवों को सुख-दुःख देने में ईश्वर के ऊपर पक्षपाती होने का दोष आता है। जो जीव सुखी हैं उन पर ईश्वर का प्रेम और जो दुःखी हैं उन पर ईश्वर का द्वेष है। ऐसे ईश्वर की आत्मा राग-द्वेष से मलिन है, अतः हम ऐसे ईश्वर को परमात्मा कैसे मानें?

यदि सृष्टि उत्पन्न करने वाली किसी शक्ति को मानें तो उसका कर्त्ता अथवा स्वामी भी किसी को मानना पड़ेगा और फिर उसका स्वामी। इस तरह एक के बाद एक ऐसे स्वामियों की कतार-सी लग जायेगी, जो अनन्त तक चली जायेगी, फिर भी स्वामी का अन्त नहीं दीखेगा। ईश्वर को कर्त्ता मान लेने से पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता । जैसी कर्त्ता के जची, वैसी सृष्टि कर डाली।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही अपने कर्मों की कर्त्ता है और सुख-दुःख की भोक्ता है। परमात्मा राग-द्वेष-रहित है, उसको संसार से मतलब ही क्या ?

प्रश्न--परिस्थिति के अनुसार एक साथ लाखों आदमी मर जाते हैं। जो धर्मिष्ट हैं, वे दुःखी देखे जाते हैं, जो पापी हैं, वे सुखी देखे जाते हैं। अतः इन सबका कारण परिस्थिति ही है, कर्म क्यों?

उत्तर --युद्ध में जो एक साथ लाखों मनुष्य मरते हैं इसका कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्यकर्म की उदीरणा है। उदीरणा का अर्थ है नियत काल से उदय में आने वाले कर्म को विशेष प्रयत्न के द्वारा उस (नियतकाल) से पूर्व उदय में लाकर भोग लेना। जो-जो आकस्मिक घटनाएं घटती हैं, उनमें उदीरणा का मुख्य हाथ है। परिस्थिति एक प्रकार में कर्म का फल है। जिसके जैसे कर्म किये हुए होते हैं उसको वैसी ही अवस्था में अपना जीवन बिताना पड़ता है। परिस्थिति का जो परिवर्तन होता है उसका कारण तो कर्म ही है। एक बड़े घराने में जन्मता है और आखिर धूल फांकता हुआ मरता है। एक गरीब घर में जन्मता है और आखिर सारे विश्व पर शासन करता है। किसी के जीवन का पूर्वार्द्ध सुखमय है और किसी के जीवन का उत्तरार्द्ध। कोई धनी देश में भी गरीब है और कोई गरीब देश में धन-कुबेर। धन है, पर शरीर स्वस्थ नहीं। शरीर स्वस्थ है, पर धन नहीं। इन सब परिस्थितियों का परिवर्तन कर्म से ही होता है। इसलिए कर्म ही मुख्य है। कर्म ही परिस्थिति को बदलने वाला है। कर्म का प्रभाव अचूक है। यदि पूर्व में बुरे कर्म बंधे हैं और वे नियत हैं, तो वर्तमान में धर्मपरायण होने पर भी वे अपना फल देंगे और यदि अच्छे कर्म बंधे हुए हैं और नियत हैं, तो वर्तमान में पापी होने पर भी वे अपना फल देंगे ही। इस प्रसंग में एक बात और जानने की है--कर्म पर भरोसा रखकर उद्योग को भूल जाने वाली बात जैन-दर्शन ने कभी नही सिखाई। जैन-दृष्टि से जैसा कर्म है, वैसा ही उद्योग। कर्म की मुख्यता नहीं, उद्योग का विरोध नहीं, किन्तु दोनों का समन्वय है। आत्म-विकास के लिए इसमें विशाल क्षेत्र है।

कर्मवाद का सिद्धान्त जीवन में आशा, उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है। उस पर पूर्ण विश्वास होने के बाद निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह ही नहीं सकते। सुख-दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते।

कर्म ही आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है। हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्वकृत-कर्मों का फल है। मनुष्य जो कुछ पाता है, वह उसी की बोयी हुई खेती है।

'हम अपने विचारों और वासनाओं के अनुरूप अपना भाग्य-निर्माण करते हैं। आज हम जो कुछ हैं वह हमारे ही पूर्वजन्मों का फल है। हमारी वर्तमान अवस्था के लिए ईश्वर जिम्मेवार नहीं। हम स्वयं अपनी इस अवस्था के लिए जिम्मेवार हैं--यदि इस तथ्य को, आत्मा के इस गुप्त भेद को हम अच्छी तरह समझ लें तो हम अपने भविष्य का ऐसा सुन्दर निर्माण कर सकते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं कि हमारा पतन तो रुक जाएगा और क्रमशः ऊंचे-ऊंचे उठते जाएंगे जब तक कि जीवन के लक्ष्य को प्राप्त न कर लें।'

आत्मा किसी रहस्यमय शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के अधीन नहीं है। उसे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए शक्तिशाली सत्ता (ईश्वर) का दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। आत्मोत्थान के लिए या पापों का नाश करने के लिए हमें किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की जरूरत है और न उसके सामने रोने, गिड़गिड़ाने या मस्तक झुकाने की। कर्मवाद हमें बताता है कि संसार की सभी आत्माएं एक समान हैं, सभी में एक-सी शक्तियां विद्यमान हैं। चेतन जगत् में जो भेदभाव दिखाई पड़ता है, उसका कारण इन आत्मिक शक्तियों का न्यूनाधिक विकास ही है।

कर्मवाद के अनुसार विकास की सर्वोच्च सीमा को प्राप्त व्यक्ति ही ईश्वर है, परमात्मा है। हमारी शक्तियां कर्मों से आवृत हैं, अविकसित हैं, परन्तु आत्म-बल के द्वारा कर्म का आवरण दूर हो सकता है और इन शक्तियों का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचकर हम परमात्मस्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न-विशेष से परमात्मा बन सकती है।

जैन-दर्शन में किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए कर्म और उद्योग--ये दो ही नहीं, परन्तु पांच कारण माने गये हैं, जैसे--काल,स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति।

काल

भाग्य, पुरुषार्थ या स्वभाव--कोई भी काल के बिना कार्य नहीं कर सकता। शुभाशुभ कर्मों का फल तुरन्त ही नहीं मिलता, परन्तु कालांतर में नियत समय पर ही मिलता है। एक नवजात शिशु को बोलना या चलना सिखाने के लिए चाहे कितना ही उद्योग और प्रयत्न किया जाए, वह जन्मते ही बोलना या चलना नहीं सीख सकता। वह काल या समय पाकर ही सीखेगा। दवा पीते ही रोग से आराम नहीं होता, समय लगता है। आम की गुठली में महावृक्ष के रूप में परिणत होने तथा हजारों आम उत्पन्न करने का स्वभाव है, परन्तु फिर भी उसे बोने के साथ ही फल नहीं मिलता, समय लगता है।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करनेवाला, स्थिर करने वाला, संहार करने वाला संयोग में वियोग और वियोग में संयोग करने वाला काल ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव

आम की गुठली में अंकुरित होकर वृक्ष बनने का स्वभाव है, अतः माली का पुरुषार्थ काम आता है। मालिक का भाग्य फल देता है और काल के बल से अंकुर आदि बनते हैं। हरेक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव होता है। बबूल कभी आम उत्पन्न नहीं कर सकता ।

कर्म

एक ही मां के दो बच्चे हैं--एक सुन्दर एवं बुद्धिमान, दूसरा कुरूप एवं मूर्ख। ऐसा क्यों? काल, पुरुषार्थ, स्वभाव--ये दोनों में समान थे, फिर अन्तर क्यों? एक ही मां-बाप का रज और वीर्य, एक ही गर्भ से उत्पन्न, एक ही वातावरण, फिर अन्तर कैसा? यह सब कर्म का प्रभाव है। जिस जीव ने पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किए, उसको अच्छे संयोग प्राप्त हुए और जिसने बुरे कर्म किए, उसको प्रतिकूल संयोग मिले।

पुरुषार्थ

संसार में परिभ्रमण कराने वाला कर्म है, परन्तु मुक्त कराने में कर्म की सामर्थ्य नहीं। मुक्ति प्राप्त करने में पुरुषार्थ की सत्ता चलती है। पूर्वजन्म के अच्छे उद्योग और शुभ कर्मों का बन्ध होने पर भी वर्तमान के उद्योग के बिना पूर्व संचित शुभ कर्म भी इष्ट फल नहीं दे सकते। उसके लिए उद्योग जरूरी है। आटा, पानी और आग सब तैयार होने पर भी भाग्य-भरोसे बैठे रहने से भोजन नहीं बनता। परोसी हुई रोटी बिना हाथ चलाए मुंह में नहीं जा सकेगी। वर्तमान में उद्यम किए बिना कोई काम नहीं हो सकता।

नियति को घड़नेवाला पुरुषार्थ ही है, परन्तु घड़ने के बाद वह पूर्ण स्वतंत्र है। फिर पुरुषार्थ का उस पर रत्तीभर भी जोर नहीं चलता।

नियति

निकाचित बन्ध वाले कर्मों का समूह नियति है। जो कर्म अवश्य भोगना पड़े, जिसकी स्थिति अथवा विपाक में कुछ भी परिवर्तन न हो सके, उस कर्म के बंध को निकाचित बंध कहते हैं। जिस कार्य का फल तदनुकूल पुरुषार्थ से विपरीत दिशा में जाए, उसको नियति का कार्य मानना चाहिए। पुरुषार्थ सिर्फ नियति के सामने निष्फल होता है।

किसी भी कार्य का फल प्राप्त करने के लिए इन पांच कारणों की आवश्यकता पड़ती है, उदाहरणार्थ--

एक विद्यार्थी मैट्रिक परीक्षा पास करना चाहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल–उसे पास करने में छह-सात साल अवश्य लगेंगे।

स्वभाव–मन की स्थिरता, पढ़ने की रुचि एवं शिक्षण-योग्य स्वभाव--इनकी अनुकूलता रहने से ही वह निश्चित अवधि में पास हो सकेगा अन्यथा नहीं।

कर्म–तीक्ष्ण बुद्धि एवं स्वस्थ शरीर की जरूरत होगी और ये पूर्व-कर्मों के क्षयोपशम या उदय के अनुसार मिलते हैं।

पुरुषार्थ–उद्यम करना होगा। स्कूल जाना तथा पाठ याद करना होगा।

नियति–उपरोक्त चारों का शुभ संयोग प्राप्त है, परन्तु फिर भी बीच-बीच में विघ्न आ पड़ते हैं--बीमार हो जाए, शायद डॉक्टर ठीक कर दे और वह पास हो जाए--कभी-कभी ऐसे भी विघ्न आ सकते हैं कि लाख चेष्टा करने पर भी वे दूर नहीं हो सकते और विद्यार्थी फैल हो जाता है, यह नियति का ही काम है।

मनुष्य का जीवन विघ्न--बाधा, दुःख और विपत्तियों से भरा हुआ है। इनके आने पर वे घबरा जाते हैं। मन चंचल हो जाता है। बाहरी निमित्त कारणों को वे दुःख का प्रधान कारण समझ बैठते हैं। अतएव निमित्त कारणों को वे भला-बुरा कहते हैं और कोसते हैं। ऐसी जटिल परिस्थिति में कर्मवाद का सिद्धांत ही उन्हें सही मार्ग पर ला सकता है। उसका प्रथम घोष है--आत्मा अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। सुख-दुःख उसी के किए हुए कर्मों का फल है। कोई भी बाहरी शक्ति आत्मा को सुख-दुःख नहीं दे सकती। वह तो सिर्फ निमित्त मात्र बन सकती है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर आत्मा दुःख और विपत्ति के समय घबराती नहीं। वह दृढ़ता के साथ उन विपत्तियों का धैर्यपूर्वक सामना करती है। अपने दुःख के लिए वह निमित्त कारणों को दोष नहीं देती। इस प्रकार कर्मवाद हमें निराशा से बचाता है, दुःख सहने की शक्ति देता है और मन को शांत एवं स्थिर रखकर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्यारहवां बोल

गुणस्थान चौदह

१. *मिथ्या-दृष्टि*
२. *सास्वादन-सम्यग्दृष्टि*
३. *मिश्र दृष्टि*
४. *अविरत-सम्यग्दृष्टि*
५. *देश-विरति*
६. *प्रमत्त-संयत*
७. *अप्रमत्त-संयत*
८. *निवृत्तिबादर*
९. *अनिवृत्तिबादर*
१०. *सूक्ष्म-संपराय*
११. *उपशांत-मोह*
१२. *क्षीण-मोह*
१३. *सयोगी-केवली*
१४. *अयोगी केवली*

आत्मिक गुणों के अल्पतम विकास से लेकर उसके सम्पूर्ण विकास तक की समस्त भूमिकाओं को जैन-दर्शन में चौदह भागों में बांट दिया गया है, जिनको गुणस्थान कहते हैं। आत्मा की निर्मलता से गुणस्थान क्रमशः ऊंचे होते हैं और मलिनता से नीचे।

१. *मिथ्यादृष्टि गुणस्थान*-जिसकी तत्त्व-श्रद्धा विपरीत हो, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसके गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टि व्यक्ति की क्षायोपशमिक दृष्टि का नाम भी मिथ्यादृष्टि है, उसे भी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहा जा सकता है।

ये दोनों मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की परिभाषाएं हैं। पहली परिभाषा में गुणी (व्यक्ति) को लक्ष्य कर उसमें पाए जाने वाले गुण को गुणस्थान कहा है और दूसरी में व्यक्ति को गौण मानकर केवल क्षायोपशमिक दृष्टि को ही गुणस्थान कहा है। इन दोनों का अर्थ एक है। निरूपण के प्रकार दो हैं। पहली के अनुसार विपरीत-दृष्टि वाले पुरुष में जो क्षायोपशमिक गुण है, वह मिथ्यात्वी पुरुष में होने के कारण मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

२. *सास्वादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान*-जिसकी दृष्टि सम्यक्त्व के किंचित् स्वाद-सहित होती है, उस व्यक्ति के गुणस्थान को सास्वादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जब तक पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान को नहीं पहुंच पाता तब तक की उस मध्यवर्ती अवस्था का नाम सास्वादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। फल वृक्ष से गिरता है परन्तु पृथ्वी को छू जाने के पहले की अवस्था के समान यह द्वितीय गुणस्थान है।

३. मिश्र गुणस्थान–यह आत्मा की सन्देह सहित दोलायमान अवस्था है। इसमें विचार-धारा निश्चित नहीं होती है। तत्त्व के प्रति दृष्टि मिश्रित होती है। सम्यक् है या असम्यक्–इस प्रकार संदेहशील होती है। इस दोलायमान अवस्था वाले व्यक्ति का गुणस्थान मिश्र गुणस्थान है। पहले गुणस्थान और इस गुणस्थान में यही भिन्नता है कि पहले-वाले की दृष्टि तत्त्व के प्रति एकांत रूप से मिथ्या होती है और इस गुणस्थान वाले की संदिग्ध होती है।

४. अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान-जिसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो किन्तु किसी प्रकार का व्रत नहीं हो, उस व्यक्ति के गुणस्थान को अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। यह व्रत-रहित सम्यग्-दर्शन की अवस्था है। सत्य के प्रति आस्था हो जाती है, परन्तु उसका आचरण करने की स्थिति नहीं बनती। आत्मा को उसी अवस्था में अपना भान होता है, देह भिन्न है और आत्मा भिन्न–ऐसा विवेक प्राप्त होता है। मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? मैं संसार में किसलिए पड़ा हूं? सांसारिक बंधनों से छूटने का उपाय क्या है? इत्यादि बातों पर आत्मा का चिंतन होने लगता है। मोक्ष की ओर अग्रसर होने की चेष्टा होने लगती है। अन्य दर्शन इस अवस्था हो आत्मदर्शन या आत्मसाक्षात्कार भी कहते हैं।

५. देशविरति गुणस्थान-जिस व्यक्ति के व्रत-अव्रत दोनों हों, पूर्ण व्रत न हों, उसके गुणस्थान को देशविरति या विरताविरत गुणस्थान कहा जाता है। इसे देशव्रती, संयतासंयती, व्रताव्रती और धर्माधर्मी गुणस्थान भी कहते हैं। इसमें सत्य का आचरण प्रारम्भ हो जाता है।

६. प्रमत्त-संयत गुणस्थान–प्रमादी साधु के गुणस्थान को प्रमत्त संयत गुणस्थान कहा जाता है। इसमें सत्य के आचरण का पूर्ण संकल्प होता है। जीवन त्यागमय, साधनामय बन जाता है।

७. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान–अप्रमादी साधु के गुणस्थान को अप्रमत्त-संयत गुणस्थान कहा जाता है, इस अवस्था में प्रमाद (अनुत्साह) का अभाव होता है। अतः यह छठी अवस्था से भी अधिक विशुद्ध है।

८. निवृत्तिबादर-गुणस्थान–जिसमें स्थूल कषाय की निवृत्ति होती है (अर्थात् कषाय थोडे रूप में उपशांत या क्षीण होता है) उसे निवृत्तिबादर गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा स्थूल रूप से कषायों (क्रोध, मान, माया,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोभ) से मुक्त हो जाती है।

९. *अनिवृत्तिबादर-गुणस्थान*-जिसमें स्थूल कषाय की अनिवृत्ति होती है (अर्थात् कषाय थोड़ी मात्रा में रहता है) उसे अनिवृत्तिबादर कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा कषाय मे प्रायः निवृत्त हो जाती है। आठवें गुणस्थान में कषाय की निवृत्ति थोड़ी मात्रा में होती है, इसलिए उसे निवृत्तिबादर कहा गया है। नवें गुणस्थान में कषाय थोड़ी मात्रा में शेष रहता है, इसलिए उसे अनिवृत्तिबादर कहा गया है। आठवें गुणस्थान का नाम, जो कषाय निवृत्त हुआ, उसके आधार पर किया गया है। नवें गुणस्थान का नाम, जो कषाय निवृत्त नहीं हुआ, उसके आधार पर किया गया है।

१०. *सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान*-सम्पराय का अर्थ है--लोभ-कषाय। जिसमें लोभ-कषाय सूक्ष्म अंश में विद्यमान हो, उसके गुणस्थान को सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में क्रोध, मान, माया--ये तीन कषाय उपशांत या क्षीण हो जाते हैं सिर्फ लोभ-कषाय अल्प मात्र में रहता है।

११. *उपशांत-मोह गुणस्थान*-जिसका मोह अंतर्मुहूर्त तक उपशांत हो जाता है, उसके गुणस्थान को उपशांत-मोह गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में अवशिष्ट लोभ का उपशम होता है, किन्तु समूल विच्छेद नहीं। वह राख से ढंकी हुई आग की तरह पुनः भभक जाता है।

१२. *क्षीण-मोह गुणस्थान*-जिसका मोह-कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके गुणस्थान को क्षीण- मोह गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। पूर्व-अवस्था में संज्वलन लोभ का अस्तित्व नहीं मिटता। इस अवस्था में वह पूर्ण रूप से मिट जाता है। आत्मा पूर्ण वीतराग हो जाती है।

१३. *सयोगी-केवली गुणस्थान*-जो केवली सयोगी होता है, मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से युक्त होता है, उसके गुणस्थान को सयोगी-केवली गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय--ये घाति-कर्म सर्वथा क्षीण होते हैं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अन्तराय रहित हो जाती है।

१४. *अयोगी-केवली गुणस्थान*-जो केवली अयोगी होता है--मन,वचन और काया की प्रवृत्ति से रहित होता है, उसके गुणस्थान को अयोगी-केवली गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में केवली मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति का निरोध कर अयोगी बन जाता है। वह अनादिकालीन कर्म-बन्धन को तोड़कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा मुक्त और स्वतन्त्र हो जाता है। उसका संसारी जीवन समाप्त हो जाता है।

प्रश्न--गुणस्थानों के निर्माण का आधार क्या है?

उत्तर --आत्मा में पांच प्रकार के मालिन्य हैं। पहला मालिन्य है मिथ्यात्व, जो सम्यक् श्रद्धा को आच्छादित कर बुद्धि को विपरीत बनाता है। दूसरा मालिन्य है अविरति, जो आत्मा को आशा-तृष्णा के पाश में डालता है। तीसरा मालिन्य है प्रमाद, जो आत्मा के सतत उत्साह को भंग कर उसे प्रमादी बनाता है। चौथा मालिन्य है कषाय, जो आत्मा को प्रज्वलित करता है। पांचवां मालिन्य है योग, जो आत्मा को चंचल बनाता है। ये मालिन्य जैन परिभाषा में आश्रव कहलाते हैं। इन आश्रवों एवं मोहनीय कर्म की प्रबलता और निर्बलता पर ही जीव की चौदह अवस्थाओं का निर्माण होता है। जितना-जितना मालिन्य हटता है, उतनी-उतनी आत्म-विशुद्धि होती है और इसी विशुद्धि का नाम गुणस्थान है।

गुणस्थानों का विकास-क्रम

पहली अवस्था में विपरीत बुद्धि बनी की बनी रहती है। भौतिक को सार और आध्यात्मिक को असार समझने की भावना बलवती रहती है। यह ठीक वस्तुस्थिति को उलटने वाली मनोदशा है। ऐसी परिस्थिति होने पर जो-जो ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम (परिमित रूप से अभाव) है, वह गुणस्थान है। किन्तु जो मिथ्यात्व है, तत्त्व-ज्ञान के प्रति विपरीत आस्था है, वह गुणस्थान नहीं है। मिथ्यादृष्टि में समता है, जिससे वह गुणस्थान का अधिकारी बनता है। मिथ्यादृष्टि में जो यथास्थित ज्ञान या सम्यक् आचरण होता है, वह उसका गुणस्थान है। मिथ्यात्वी गाय को गाय जानता है, भैंस को भैंस जानता है, और भी जो-जो वस्तुएं जिस रूप में हैं, वह उनको वैसे ही जानता है। वह उसका जानना ठीक है और गुणस्थान है। उसमें तत्त्व की रूचि नहीं होती, इसी कारण वह मिथ्यात्वी कहलाता है। मिथ्यात्वी का सारा आचरण ही मिथ्या नहीं होता। उसमें मोक्ष-मार्गानुसारी आचरण भी होता है। इस अवस्था में अल्प विकास होता है, पर यह विकास-क्रम की कोटि में नहीं है।

दूसरी अवस्था आध्यात्मिक विकास-क्रम की नहीं, परन्तु आध्यात्मिक विकास के पतन की है। पतन का अन्तराल काल दूसरी अवस्था है।

तीसरी अवस्था पर उत्क्रान्ति व अपक्रान्ति करने वाली आत्मा का अधिकार है। उत्क्रान्ति करने वली आत्मा प्रथम गुणस्थान से और अपक्रान्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाली आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में चली जाती है।

स्थिति का परिपाक होने पर तथा सारी उपयुक्त सामग्री मिलने पर आत्मा का एक आन्तरिक प्रयत्न होता है, उसमें ग्रन्थिभेद हो जाता है--मोह की प्रबल गांठ, जो पहले कभी नहीं खुली, खुल जाती है। सम्यग्-दर्शन प्राप्त हो जाता है। यह चतुर्थ भूमिका है। सम्यग्-दृष्टि प्राप्त होने पर संयम का सावधिक (मर्यादित) अभ्यास प्रारम्भ होता है। यह पांचवी भूमिका है। जब वह संयम के निरवधिक (अमर्यादित) अभ्यास में प्रवृत्त होती है तब उसकी भूमिका केवल संयम की बन जाती है। संसाराभिमुखता छूट जाती है। उसे उत्तरोत्तर आत्मानन्द का अनुभव होता है। उससे वह सातवीं अवस्था में चली जाती है। जब उत्साह में कुछ कमी आ जाती है तब सातवीं से छठी आ जाती है फिर उत्कटता आयी और सातवीं। सातवीं गई, फिर छठी। सातवीं और छठी अवस्था का यह क्रम बराबर चालू रहता है।

आठवीं अवस्था में मोह को नष्ट करने के लिए अधिक आत्मबल की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि होती है, अतः इसे अपूर्वकरण भी कहते हैं। इससे दो श्रेणियां निकलती हैं--उपशम और क्षपक। नौवीं में क्रोध, मान और माया को, दसवीं में लोभ को उपशांत तथा क्षीण कर उपशम श्रेणी वाला ग्यारहवीं में और क्षपक श्रेणी वाला बारहवीं में चला जाता है। ग्यारहवीं अवस्था वाला मोह को दबाता-दबाता बढ़ता है, इसलिए उसके अन्तर्मुहूर्त के बाद उस गुणस्थान से उसके नीचे के गुणस्थानों में जाना अवश्यंभावी बन जाता है। बारहवीं अवस्था वाला मोह को क्षीण करता हुआ आगे बढ़ता है, अतः वह तेरहवीं अवस्था में सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। आत्मा पहले मनोयोग का, उसके बाद वाक्योग का और उसके बाद काययोग का निरोध कर चौदहवीं अवस्था को प्राप्त कर लेती है। वह अल्पकालीन है। उसके बाद आत्मा मुक्त हो जाती है।

मुक्त आत्मा का ऊर्ध्वगमन

शुद्ध चेतना की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है। अतः मुक्त आत्मा वहां तक चली जाती है जहां तक उसकी गति में धर्मास्तिकाय सहायक रहता है। उसके आगे गति हो नहीं सकती, इसलिए वह शुद्ध आत्मा वहीं स्थिर हो जाती है। यह स्थान लोक के अन्तिम भाग पर है। इसे सिद्धिगति, सिद्धशिला या मोक्ष कहते हैं।

मुक्त आत्मा की स्थिति

शरीर का एक-तिहाई भाग (मुख, कान, पेट आदि) पोला होता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो-तिहाई भाग सघन। आत्मा जिस अन्तिम शरीर से मोक्ष प्राप्त करती है उसका दो-तिहाई भाग जो सघन होता है उतने जीवात्मा के प्रदेश सिद्धस्थान में फैल जाते हैं। इसे उस जीवात्मा की अवगाहना कहते हैं। भिन्न-भिन्न सिद्धात्माओं के प्रदेश परस्पर अव्याघात रहने से एक-दूसरे से टकराते नहीं। प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखती है। एक ही कमरे में हजारों दीपक रहने पर भी उनका प्रकाश एक-दूसरे से टकराता नहीं परन्तु समूचे कमरे में प्रत्येक दीपक का प्रकाश व्याप्त हो जाता है। ऐसी परम निर्मल आत्माएं वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष होती हैं। अतः उनका इस संसार में पुनरागमन नहीं होता।

गुणस्थानों का कालमान

प्रथम गुणस्थान वाली आत्माओं के संसार-भ्रमण की कोई सीमा नहीं होती। मोक्ष में नहीं जाने वाले जीवों का यही अक्षय भण्डार है। प्रथम गुणस्थान के अतिरिक्त किसी भी अवस्था में जीव अनन्त काल तक नहीं रह सकता। इसकी समुद्र से तुलना होती है और अन्य अवस्थाओं की छोटे जलाशयों के साथ तुलना की जा सकती है। यह अवस्था अभव्य जीवों के लिए अनादि और अनन्त है और भव्य--मोक्ष जानेवाले जीवों के लिए अनादि और सान्त--अन्त-सहित है। जो जीव मिथ्यात्व को त्याग, सम्यक्त्व प्राप्त कर फिर मिथ्यात्वी बन जाते हैं और उसके बाद सम्यक्त्व को पुनः प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा से पहला गुणस्थान आदि-सहित और अन्त-सहित है। इसके सिवाय सब सादि--सान्त हैं-आदि सहित और अन्त सहित हैं।

शेष गुणस्थानों का कालमान

दूसरे गुणस्थान का कालमान छह आवलिका।
चौथे गुणस्थान का कालमान तेतीस सागर से कुछ अधिक।
पांचवे, छठे और तेरहवें गुणस्थान का कालमान कुछ कम करोड़ पूर्व।
चौदहवें गुणस्थान का कालमान पांच ह्रस्वाक्षर--
(अ, इ, उ, ऋ, लृ) उच्चारण मात्र।
शेष गुणस्थानों का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारहवां बोल

पांच इन्द्रियों के तेईस विषय

१. श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय हैं–

१. जीव शब्द २. अजीव शब्द ३. मिश्र शब्द

२. चक्षुरिन्द्रिय के पांच विषय हैं–

४. कृष्ण वर्ण ५. नील वर्ण ६. रक्त वर्ण ७. पीत वर्ण ८. श्वेत वर्ण

३. घ्राणेन्द्रिय के दो विषय हैं–

९. सुगन्ध १०. दुर्गन्ध

४. रसनेन्द्रिय के पांच विषय हैं–

११. अम्ल रस १२. मधुर रस १३. कटु रस १४. कषाय रस १५. तिक्त रस

५. स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय हैं–

१६. शीत-स्पर्श १७. उष्ण-स्पर्श १८. रूक्ष-स्पर्श १९. स्निग्ध-स्पर्श २०. लघु-स्पर्श २१. गुरु-स्पर्श २२. मृदु-स्पर्श २३. कर्कश-स्पर्श।

पांच इन्द्रियों के विषय, गोचर, कार्य-क्षेत्र या विहार-क्षेत्र तेईस हैं। संक्षेप में श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द, चक्षुरिन्द्रिय का रूप, घ्राणेन्द्रिय का गंध, रसनेन्द्रिय का रस और स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श--इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक विषय है। विस्तार में इनके तेईस भेद हैं।

संसार के समस्त पदार्थ दो भागों में बांटे जा सकते हैं--मूर्त और अमूर्त। जिनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हों, वे हैं मूर्त और जिनमें वर्ण आदि न हों, वे हैं अमूर्त। इन्द्रियों से केवल मूर्त पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, अमूर्त नहीं। पांच इन्द्रियों के पांच विषय (या तेईस भेद) अलग-अलग वस्तु न होकर एक ही मूर्त द्रव्य के पर्याय हैं। जैसे--एक लड्डू है। उसको भिन्न-भिन्न रूपों से पांचो इन्द्रियां जानती हैं। अंगुली छूकर उसका शीत-उष्ण आदि स्पर्श जानती है। जीभ चखकर उसका खट्टा-मीठा आदि रस जान लेती है। नाक सूंघकर उसकी सुगंध या दुर्गन्ध की जानकारी कर लेती है। आंख देखकर उसका लाल-पीला आदि वर्ण जान लेती है। कान उस लड्डू को खाने से उत्पन्न होने वाले शब्दों को सुनने से, वह ताजा है या कई दिनों का है, जान लेता है। उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लड्डू में स्पर्श, रस, गंध आदि पांच विषयों का स्थान अलग-अलग नहीं किन्तु वे सभी उसके सब भागों में एक साथ रहते हैं। वे एक ही द्रव्य के अविभाज्य गुण हैं। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण--ये चार पौद्गलिक द्रव्य के गुण हैं और शब्द उसका कार्य है। इन्द्रिय चाहे कितनी ही चतुर क्यों न हो, पर अपने विषय के अलावा अन्य विषय को नहीं ग्रहण कर सकती। आंख कभी सुन नहीं सकती और कान देख नहीं सकता। पांचों इन्द्रियों के पांच विषय सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं।

शब्द

शब्द अनंतानन्त पुद्गल स्कन्धों से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के दो कारण हैं--संघात और भेद। असंबंधित पुद्गलों का संबंध होने से और संबंधित पुद्गलों का सम्बन्ध-विच्छेद होने से शब्द का जन्म होता है। इसके तीन प्रकार हैं--सचित्त शब्द, अचित्त शब्द और मिश्र शब्द।

जीव के द्वारा जो बोला जाता है, वह है सचित्त शब्द, जैसे--मनुष्य का शब्द। अचित्त (जड़) पदार्थ के द्वारा जो शब्द होता है वह है--अचित्त शब्द, जैसे टूटती हुई लकड़ी का शब्द। सचित्त और अचित्त--दोनों के संयोग से जो शब्द होता है वह है मिश्र शब्द, जैसे--बाजे का शब्द। शब्द मात्र श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है।

रूप

रूप पौद्गलिक है। इसके दो अर्थ हैं--आकार और वर्ण। प्रस्तुत विषय में रूप का अर्थ वर्ण ही ग्राह्य है, आकार नहीं। वर्ण स्वयं पुद्गल नहीं, किन्तु पुद्गल का गुण है। वर्ण पांच प्रकार का है--कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत। सान्निपातिक (मिले हुए) वर्ण और भी अनेक हो सकते हैं, जैसे--एक गुण श्वेत वर्ण के साथ, एक गुण कृष्ण वर्ण का संयोग होने से कापोत वर्ण हो जाता है। रूप मात्र चक्षुःइन्द्रिय का विषय है।

गन्ध

गंध भी पौद्गलिक है। इसके दो भेद हैं--सुगंध और दुर्गन्ध। सुगन्ध इष्ट परिमल है। इससे मन और इन्द्रिय प्रसन्न होते हैं। दुर्गन्ध अनिष्ट परिमल है। इससे मन और इन्द्रिय व्याकुल होते हैं। गंध मात्र घ्राणेन्द्रिय का विषय है।

रस

रस भी पौद्गलिक है। यह पांच प्रकार का है--तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. सौंठ तिक्त है।
२. नीम का रस कटु होता है।
३. हरड़ कषैला होता है।
४. इमली का रस अम्ल (खट्टा) होता है।
५. चीनी का रस मधुर होता है।
रस-मात्र रसनेन्द्रिय का विषय है।

स्पर्श

स्पर्श भी पौद्गलिक है। उसके आठ भेद हैं :

१. शीत २. उष्ण ३. स्निग्ध ४. रुक्ष ५. लघु ६. गुरु ७. मृदु ८. कर्कश।

इनमें आदि के चार स्पर्श मूल के हैं और अन्तिम चार स्पर्श उनकी बहुलता से बनते हैं। लघुता, गुरुता, मृदुता और कर्कशता आपेक्षिक हैं। व्यवहार दृष्टि से पदार्थ गुरू, लघु, गुरु-लघु, अगुरुलघु--चार प्रकार के होते हैं। पत्थर गुरु हैं, दीपशिखा लघु है, हवा गुरु-लघु है, आकाश अगुरु-लघु है, परन्तु निश्चय-दृष्टि से न तो कोई द्रव्य सर्वथा लघु और न सर्वथा गुरु है। पत्थर आदि गुरु हैं तो भी प्रयोग से ऊपर चले जाते हैं, अतः वह एकान्त रूप से गुरु नहीं। छत से गिराया हुआ रुई का पुंज भी नीचे चला जाता है, अतः वह एकांत रूप में लघु नहीं। किन्तु रुई की अपेक्षा पत्थर भारी है और पत्थर की अपेक्षा रूई का पुंज हल्का है। ऊपर तथा नीचे जाने में लघुता तथा गुरुता निश्चित रूप से कारण नहीं। मुख्यतः जो उर्ध्वगति परिणाम वाले पुद्गल हैं, वे उर्ध्वगति करते हैं और जो अधोगति परिणाम वाले हैं वे अधोगति करते हैं। उर्ध्वगति परिणाम से धुआँ नीचे से ऊपर जाता है और अधोगति परिणाम से वस्तु ऊपर से नीचे की ओर आती है। यहां पर ऊर्ध्वगति परिणाम और अधोगति परिणाम ही कारण हैं, गुरुता और लघुता कारण नहीं। परिणाम का परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी होता है। मूल चार स्पर्श वाले स्कन्ध अगुरु-लघु ही होते हैं, जैसे उच्छ्वास, कार्मण, मन और भाषा के पुद्गल-स्कन्ध। अष्टस्पर्शी स्कन्ध गुरु-लघु होते हैं, जैसे--कार्मण शरीर को छोड़कर शेष चार शरीरों के पुद्गल-स्कन्ध।

कई ग्रन्थों में स्पर्श के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं। उष्ण-स्पर्श मृदुता व पाक करनेवाला है। शीत-स्पर्श निर्मलता व स्तम्भित करने वाला होता है। स्निग्ध-स्पर्श संयोग होने का कारण है। रूक्ष-स्पर्श संयोग नहीं होने का कारण है। लघु-स्पर्श ऊर्ध्वगमन व तिर्यग् गमन का करण है। गुरु-स्पर्श।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधोगमन का कारण है। मृदु-स्पर्श नमन का और कठिन-स्पर्श अनमन का कारण है।

रूक्ष-स्पर्श की बहुलता से लघु-स्पर्श होता है और स्निग्ध-स्पर्श की बहुलता से गुरु स्पर्श होता है। शीत और स्निग्ध-स्पर्श की बहुलता से मृदु-स्पर्श होता है। उष्ण या रूक्ष की बहुलता से कर्कश-स्पर्श बनता है। इस प्रकार चार स्पर्श बन जाने से सूक्ष्म स्कन्ध भी बादर स्कन्ध बन जाता है।

चतुःस्पर्शी स्कन्ध से अष्टस्पर्शी स्कन्ध बनने का कारण–

शीत उष्ण निध रूक्ष रे, सूक्षम ए चिहूं मूलगा।
अन्य चिहूं क ख ड. प्रमुख रे, ते किम बादर नीपजे।।
लूख फर्श नी जाण रे, बहुलाई करी हुवे लघु।
निध तणी पहिचाण रे, बहुलाई करी हुवे गुरु।। [१]

स्पर्श आदि पौद्गलिक होने के कारण मूर्त हैं। मूर्त होने के कारण इन्द्रियगम्य हैं। यह कोई नियम नहीं कि जितने मूर्त पदार्थ हैं, वे सब-के-सब इन्द्रिय द्वारा जाने जा सकते हैं। परमाणु मूर्त हैं तो भी इन्द्रिय-गम्य नहीं। अनन्त परमाणुओं का एक स्कन्ध बनता है तो भी जब तक सूक्ष्म-परिणाम की निवृत्ति और स्थूल-परिणाम की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह भी इन्द्रिय-गम्य नहीं बनता। जितने पदार्थ दृष्टि गोचर होते हैं, वे सब मूर्त हैं और अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म यंत्रों से जो दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध हैं। परमाणु आदि प्रत्यक्ष ज्ञान (अवधिज्ञान आदि) के बिना दीख भी नहीं सकते। शब्द आदि जितने भी इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध हैं। अतः इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा में हैं। स्थूल परिणाम वाले पुद्गल-स्कन्ध इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं, सूक्ष्म परिणाम वाले नहीं । यदि ऐसा माना जाए तब तो कहना होगा कि सामान्यतः जो आंखों से दीखते हैं, वे स्थूल हैं और यंत्रों की सहायता से दीखते हैं वे सूक्ष्म हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है। दृष्टि में आने वाले सब स्थूल हैं चाहें वे आंखों से देखे जाएं अथवा बाह्य साधनों की सहायता से देखे जाएं। यदि कोई यह पूछे कि यदि यह स्थूल है तो फिर पर्याप्त सहयोग के बिना दीखता क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय-ज्ञान में बाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है। जब तक इन्द्रिय को बाह्य सामग्री की पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक वह अपने विषय को पूर्णतया नहीं जान सकती।

---

१. श्रीमज्जयाचार्यकृत– भगवती की जोड़ शतक, १८/६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरहवां बोल

दस प्रकार के मिथ्यात्व

१. *धर्म को अधर्म समझना*
२. *अधर्म को धर्म समझना*
३. *मार्ग को कुमार्ग समझना*
४. *कुमार्ग को मार्ग समझना*
५. *जीव को अजीव समझना*
६. *अजीव को जीव समझना*
७. *साधु को असाधु समझना*
८. *असाधु को साधु समझना*
९. *मुक्त को अमुक्त समझना*
१०. *अमुक्त को मुक्त समझना*

विपरीत श्रद्धान रूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं। जो बात जैसी हो, वैसी न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है।

वस्तु का स्वरूप लक्षण से जाना जाता है। लक्षण ही वस्तु का विभाग करता है। लक्षण की परिभाषा है--मिली हुई वस्तुओं को अलग-अलग करना। इस बोल में आए हुए धर्म, अधर्म, जीव आदि वस्तुओं के लक्षणों का ज्ञान जरूरी है। इनके जानने से ही हम बोल के वास्तविक रहस्य को समझ सकते हैं।

धर्म-अधर्म

जिससे आत्म-स्वरूप की उन्नति एवं अभ्युदय हो, उसे धर्म कहते हैं। आत्म-स्वरूप का पूर्ण उदय मोक्ष है। धर्म दो प्रकार के माने गये हैं--संवर और निर्जरा। संवर का अर्थ है--नये कर्मों के प्रवेश को रोकना और निर्जरा का अर्थ है--पहले बंधे हुए कर्मों का नाश करना। संवर से आत्मिक उज्ज्वलता की रक्षा होती है और निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है। दूसरे शब्दों में संवर आत्म-संयम और निर्जरा है सत्प्रवृत्ति।

धर्म को अधर्म समझना और अधर्म को धर्म समझना ही मिथ्यात्व है।

मार्ग-कुमार्ग

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप--ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, साधन हैं, उपाय हैं । ज्ञान द्वारा आत्मा पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानती है। दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है। चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के प्रवेश को रोकती है एवं तप द्वारा पुराने कर्मों का विनाश कर आत्मा शुद्ध होती है, निर्मल होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इन चारों को मोक्ष मार्ग न समझना और उनसे भिन्न को मोक्ष का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

जीव-अजीव

जैन दर्शन में जीव-अजीव के अन्तर को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से बड़ी बारीकी से समझाया गया है। आत्म-विकास की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति को जीव-अजीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना बहुत जरूरी है। जीव-अजीव का स्वरूप जाननेवाला ही संयम का स्वरूप जान सकता है।

जीव का लक्षण है चेतना। चेतना-लक्षण ही जीव को अजीव से, जड़ पदार्थ से अलग करता है। जिसमें चेतनता हो, वह जीव है और जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है। जीव में अजीव की श्रद्धान करना और अजीव में जीव का विश्वास करना मिथ्यात्व है।

साधु-असाधु

साधु का लक्षण है--सम्पूर्ण रूप से पंच महाव्रत पालन करना। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पांच महाव्रतों का पालन करने वालों को असाधु और न करनेवालों को साधु समझना मिथ्यात्व है।

मुक्त-अमुक्त

मुक्त आत्मा का लक्षण है--आठ कर्मों से मुक्ति या छुटकारा पाना। मुक्त कर्म-रहित होते हैं। जो कर्म-रहित हैं, उनको कर्म-सहित समझना और जो कर्म-सहित हैं उनको कर्म रहित समझना मिथ्यात्व है।

धर्म, मार्ग, जीव, साधु और मुक्त--ये पांच तत्त्व आध्यात्कि भवन के विशाल स्तम्भ हैं। जीव या आत्मा मूल भित्ति है। धर्म और मार्ग--दोनों उसकी उन्नति के साधन हैं। साधु आत्मोन्नति का कार्य-क्षेत्र है, क्योंकि धर्म या मार्ग की साधना साधु-अवस्था में ही सुचारु रूप से सम्भव है। साधना का अन्तिम लक्ष्य या उत्कृष्ट फल मोक्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौदहवां बोल

नौ तत्त्व के ११५ भेद

१. *जीव के १४ भेद*
२. *अजीव के १४ भेद*
३. *पुण्य के ६ भेद*
४. *पाप के १८ भेद*
५. *आश्रव के २० भेद*
६. *संवर के २० भेद*
७. *निर्जरा के १२ भेद*
८. *बंध के ४ भेद*
९. *मोक्ष के ४ भेद*

तत्त्व का अर्थ है--सद्वस्तु, वह वस्तु जिसका वास्तविक अस्तित्त्व हो। तत्त्व नौ हैं--

१. जीव--चेतनामय अविभाज्य असंख्य-प्रदेशी पिण्ड।
२. अजीव--अचेतन तत्त्व।
३. पुण्य--सुख देनेवाला उदीयमान शुभ कर्म पुद्गल-समूह।
४. पाप--दुख देनेवाला उदीयमान अशुभ कर्म पुद्गल-समूह।
५. आश्रव--कर्म-ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था।
६. संवर--कर्म निरोध करनेवाली आत्मा की अवस्था।
७. निर्जरा--कर्म तोड़नेवाली आत्मा की अवस्था।
८. बन्ध--आत्मा के साथ दूध-पानी की भांति एकीभूत होनेवाला कर्म-पुद्गल-समूह।
९. मोक्ष--कर्मों का अत्यन्त वियोग, आत्म-स्वरूप का प्रकटीकरण।

१. जीव

इन्द्रियों के आधार पर जीव पांच प्रकार के होते हैं। एक इन्द्रिय वाले जीव दो प्रकार के होते हैं:

१. सूक्ष्म--आंखों से नहीं दिखने वाले--जिनका शरीर दृष्टिगोचर न हो।
२. बादर--जिनका शरीर दृष्टिगोचर हो।

एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नहीं होते। सूक्ष्म से हमारा अर्थ उन जीवों से है, जो समूचे लोक में फैले हुए हैं और वे जो इतने सूक्ष्म हैं कि किसी तरह के स्थूल प्रहार से नहीं मारे जा सकते। अतएव उनके द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई भी मनुष्य कायिक-हिंसक नहीं बनता।

बादर एकेन्द्रिय के भी एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं होता। हम जो देखते हैं, उन असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों का एक पिण्ड होता है। परन्तु समुदित अवस्था में देखे जाते हैं, इसलिए वे बादर ही हैं। एकेन्द्रिय के सिवाय चार भेद और किसी जाति के होते हैं तो पंचेन्द्रिय के होते हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव की सूक्ष्म और बादर--ये दो श्रेणियां है, वैसे ही पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी (समनस्क) और असंज्ञी (अमनस्क)--इन दो भागों में विभाजित हैं।

चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के मन नहीं होता। इसलिए मन के आधार पर उनके विभाग नहीं किए जाते। पंचेन्द्रिय जीव, जो संमूर्च्छन-जन्म से उत्पन्न होते हैं, उनके मन नहीं होता, शेष पंचेन्द्रय जीवों के मन होता है।

जीवों के चौदह भेद हैं--

१-२. सूक्ष्म-एकेन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्याप्त।

३-४. बादर एकेन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्याप्त।

५-६. द्वीन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्याप्त।

७-८. त्रीन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्याप्त।

९-१०. चतुरिन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्याप्त।

११-१२. असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्याप्त।

१३-१४. संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद--अपर्याप्त और पर्यात।

उक्त चौदह भेद शरीर धारण करने वाले प्राणियों के हैं। जीव परिमाण (संख्या) में अनन्त हैं। प्रदेश परिमाण और चेतना लक्षण से जीव समान हैं, फिर भी कर्मों की विविधता से उनके अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे--कोई जीव सूक्ष्म शरीर वाला होता है, कोई स्थूल शरीर वाला होता है। कोई एक इन्द्रिय वाला, कोई दो, तीन, चार और पांच, इन्द्रिय वाला। कोई संज्ञी (मन-सहित) होता है तो कोई असंज्ञी (मन-रहित)। इनमें कर्म-जनित भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण एक ही स्वरूप वाले जीव अनेक स्वरूप वाले प्रतीत होते हैं।

इस प्रकरण में जो जीव के चौदह भेद किए गए हैं, वे सब उत्पत्ति के समय मिलने वाली पौद्गलिक रचना (पर्याप्ति) की दृष्टि से किए गए हैं। पौद्गलिक रचना की योग्यता सब जीवों में समान रूप से नहीं होती। एक इन्द्रिय वाले जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास--इन चार पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव मनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याप्ति को छोड़कर शेष पांचों पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव छहों पर्याप्तयों के अधिकारी होते हैं। जिस जाति के जीव में जितनी पर्याप्तियां हो सकती हैं, उतनी पाए बिना ही जो जीव मर जाते हैं या जब तक पूर्ण नहीं कर पाते तब तक उन्हें अपर्याप्त कहते हैं और जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पा लेते हैं, वे पर्याप्त कहलाते हैं। पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना कोई भी जीव मर नहीं सकता। उनकी पूर्ति के बाद भी एक इन्द्रिय वाले जीव श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति को जब तक पूर्ण नहीं कर लेते, तब तक वे अपर्याप्त होते हैं और जो पूर्ण कर लेते हैं, वे पर्याप्त। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव भाषा-पर्याप्ति को जब तक पूर्ण नहीं करते तब तक वे अपर्याप्त होते हैं। जो पूर्ण कर लेते हैं, वे पर्याप्त कहलाते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मनःपर्याप्ति को जब तक पूर्ण नहीं करते तब तक वे अपर्याप्त होते हैं और जो पूर्ण कर लेते हैं, वे पर्याप्त।

२. अजीव

अजीव के मुख्य भेद पांच और गौण भेद चौदह हैं:--

१. धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं--स्कन्ध, देश, प्रदेश।

२. अधर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं--स्कन्ध, देश, प्रदेश।

३. आकाशास्तिकाय के तीन भेद हैं--स्कन्ध, देश, प्रदेश।

४. काल का एक भेद है--काल।

५. पुद्गलास्तिकाय के चार भेद हैं--स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु।

स्कन्ध--जिसके खण्ड न हों सर्वथा अविभाज्य हो, उसे स्कन्ध कहा जाता है। कोई अलग-अलग अवयव इकट्ठे होकर जो अवयवी अर्थात् एक समूह बन जाता है उसे भी स्कंध कहा जाता है। परन्तु यहां पहली परिभाषा ही इष्ट है।

स्कंध अनन्त हैं और भांति-भांति के हैं। जैसे--दो परमाणुओं का समुदाय द्वि-प्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं का समुदाय त्रि-प्रदेशी स्कंध एवं असंख्य, अनन्त, अनन्तानन्त परमाणुओं का समुदाय क्रमशः असंख्य-प्रदेशी, अनन्त-प्रदेशी और अनन्तानन्त-प्रदेशी स्कन्ध है।

स्कन्ध दो प्रकार के होते हैं--

१. स्वाभाविक-स्कन्ध--धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, अकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय--इनके स्कन्ध स्वाभाविक हैं। इनका विभाग कदापि नहीं हो सकता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. *वैभाविक-स्कन्ध*–पुद्गलों के स्कन्ध वैभाविक हैं। ये समुदित होते हैं और बिखर जाते हैं।

देश–स्कन्ध का बुद्धि-कल्पित अंश देश कहलाता है।

प्रदेश–स्कन्ध का सर्व सूक्ष्म अंश प्रदेश कहलाता है।

परमाणु–एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श (शीत और उष्ण में से एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में एक) वाला होता है। प्रदेश व परमाणु एक ही हैं। परन्तु जब तक वह स्कन्ध के संलग्न रहता है तब तक उसे प्रदेश और जब स्कन्ध से अलग हो जाता है तब उसे परमाणु कहते हैं।

१. *धर्मास्तिकाय*–जीव और पुद्गलों की गति में और हलन-चलन आदि में जो उदासीन सहायक होता है उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे मछली की गति में पानी सहायक होता है।

२. *अधर्मास्तिकाय*-जीव और पुद्गलों के स्थिर रहने में जो उदासीन सहायक होता है उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं।

३. *आकाशास्तिकाय*–जिसमें जीव और पुद्गल आदि द्रव्यों को रहने के लिए स्थान मिले, अवकाश मिले, आश्रय मिले, वह आकाशास्तिकाय है।

४. *काल*–काल काल्पनिक द्रव्य है। सूर्य-चन्द्रमा की गतिविधि के आधार पर उसकी कल्पना की गई है। उसके स्कन्ध, देश और प्रदेश–ये विभाग नहीं होते। काल का सबसे सूक्ष्म भाग समय है। जो समय उत्पन्न होता है, वह चला जाता है और जो उत्पन्न होने वाला है, वह अनुत्पन्न है अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ और जो वर्तमान है, वह एक है। स्कंध समुदाय से होता है, इसलिए काल का स्कंध नहीं होता। स्कंध के बिना देश भी नहीं होता। काल का आया हुआ समय चला जाता है, नष्ट हो जाता है, अतः काल के प्रदेश भी नहीं होते। इसलिए काल का भेद एक केवल काल ही है।

५. *पुद्गलास्तिकाय*–जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो, उसे पुद्गलास्किाय कहा जाता है।[1]

३. पुण्य

पुण्य शुभ कर्म का उदय है। पहले बंधे हुए शुभ-कर्म जब शुभ फल देते हैं तब वे पुण्य कहलाते हैं। पुण्य के नौ प्रकार हैं–

१. अन्न पुण्य २. पान पुण्य ३. स्थान पुण्य ४. शय्या पुण्य ५. वस्त्र पुण्य ६. मन पुण्य ७. वचन पुण्य ८. काय पुण्य ९. नमस्कार पुण्य।

ये भेद वास्तव में पुण्य तत्त्व के नहीं, परन्तु पुण्य के कारणों के हैं।

१. विस्तृत जानकारी के लिए देखें बीसवां बोल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण भी उपादान नहीं, निमित्त हैं।

प्रत्येक काम में उपादान, निमित्त और कहीं-कहीं निर्वर्तक-इन तीन कारणों की आवश्कता होती है। घड़े का उपादान कारण है मिट्टी, निमित्त कारण है चक्र-सूत, प्रमुख सामग्री और निर्वर्तक कारण है कुम्हार। इसी प्रकार पुण्य का उपादान कारण है पुण्य के रूप में परिणत होने वाला पुद्गल-समूह, निमित्त कारण है अन्नपान आदि पदार्थ और निर्वर्तक (उत्पादक) कारण है शुभ-योग की प्रवृत्ति और शुभ नाम-कर्म का उदय। अन्न पुण्य का निमित्त कारण है, पानी पुण्य का निमित्त कारण है, वैसे ही स्थान, शय्या, पाट, बाजोट, वस्त्र आदि सब पुण्य के निमित्त कारण हैं।

पुण्य के नौ भेद मुनि को लक्ष्य कर किए गए हैं, ऐसा अनुमान किया जाता है। मुनि को अन्न-पान आदि की आवश्यकता होती है, सोना-चांदी आदि की नहीं। अतः आवश्यकतानुसार मुनि को अन्न-पान आदि का दान देना, दान देने के सम्बन्ध में मन, वचन तथा काया की प्रवृत्ति शुद्ध रखना और साधु को नमस्कार करना, यह श्रावक-जीवन का अंग है।

पुण्य की उत्पत्ति धार्मिक क्रिया के बिना हो नहीं सकती। इसलिए उसे धर्म के बिना नहीं हो सकने वाला (धर्माविनाभावि पुण्यम्) कहा गया है। जीव की मानसिक, वाचिक व कायिक जो शुभ प्रवृत्ति होती है, वह धार्मिक क्रिया है। उससे आत्मा विशुद्ध बनती है और उस विशुद्धि के साथ-साथ शुभ कर्म का संचय होता है। उस शुभकर्म के संचय को बंध या द्रव्य-पुण्य कहा जाता है। पूर्व-संचित शुभ-कर्म जब उदय में आते हैं, शुभ फल देते हैं तब उनको पुण्य कहा जाता है।

साधारणतया (उपचार से) क्रिया को अर्थात् शुभयोग की प्रवृत्ति को भी पुण्य कह देते हैं, किन्तु वास्तव में क्रिया पुण्य का कारण है, पुण्य नहीं। पुण्य तो क्रिया-जनित फल है। फल भी मुख्य नहीं, किन्तु प्रासंगिक है। मुख्य फल तो निर्जरा (आत्मा की उज्ज्वलता) है। खेती का मुख्य फल धान होता है, पलाल नहीं। शुभयोग की प्रवृत्ति आत्मा की उज्ज्वलता के लिए करनी चाहिए, पुण्य के लिए नहीं।

प्रश्न--एक ही शुभ योग की प्रवृत्ति से निर्जरा और शुभ कर्म का संचय--ये दो काम कैसे हो सकेंगे?

उत्तर--एक मुख्य फल के साथ-साथ आनुषंगिक फल अनेक होते ही हैं। धान के लिए की हुई खेती में भी धान के साथ-साथ अनेक प्रकार की दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुओं ही प्राप्ति होती है। मुनि को जो अन्न देने की प्रवृत्ति है, वह शुभ काययोग है और वह पुण्य का कारण है। तो भी कारण का कार्य में उपचार करके उस अन्न देने की क्रिया को ही पुण्य कह दिया जाता है।

प्रश्न--धर्म और पुण्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर--साधारण भाषा में धर्म और पुण्य--इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही किया जाता है, किंतु तात्त्विक दृष्टि से धर्म और पुण्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग आश्रव का निरोध करना संवर-धर्म है। मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति करना निर्जरा-धर्म है। जिस समय शुभ-योग की प्रवृत्ति होती है, उस समय आत्मा के साथ जिन शुभ पुद्गलों का सम्बन्ध होता है वह द्रव्य-पुण्य या सत्कर्म का बन्ध कहलाता है और जिस समय वे सम्बन्धित कर्म उदय में आकर आत्मा को फल देते हैं उस शुभ-कर्म की उदीयमान अवस्था का नाम पुण्य है। धर्म आत्मा का उज्ज्वल परिणाम है और पुण्य पौद्गलिक है, भौतिक सुख का कारण है।

प्रश्न--अधर्म और पाप में क्या अन्तर है ?

उत्तर--मिथ्यात्व आदि चार आश्रव और अशुभ योगमय जो आत्म-परिणाम है वह अधर्म है और इस आत्मीय अवस्था से जो अशुभ पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं, वह अशुभ कर्म का बन्ध है और यह बन्ध जब उदीयमान अवस्था को प्राप्त होता है तब वह पाप कहलाता है। अधर्म आत्मा का मलिन परिणाम है और पाप ज्ञान आदि आत्म-गुणों को आवृत करने वाला तथा दुःख देने वाला पुद्गल-समूह है।

प्रश्न--पुण्य की उत्पत्ति स्वतंत्र है या नहीं? धर्म के बिना पुण्य का बन्ध होता है या नहीं ?

उत्तर--आत्मा की जितनी क्रिया होती है, उसके दो प्रकार हैं--अशुभ एवं शुभ। अशुभ से पाप-कर्म का बन्ध होता है और शुभ क्रिया से दो कार्य होते हैं--एक मुख्य, दूसरा गौण। शुभयोग की प्रवृत्ति से मुख्यतया कर्म-निर्जरा होती है और उसके प्रासंगिक फल के रूप में पुण्य-बंध होता है। यह पुण्य-बंध का स्वरूप है। अब इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि अशुभ प्रवृत्ति से तो पुण्य का बन्ध होता ही नहीं और जहां कहीं शुभ प्रवृत्ति होगी वहां निर्जरा अवश्य होगी। निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है, अतः वह धर्म है। इसके सिवाय कोई भी ऐसा स्थान नहीं रह जाता है, जहाँ धर्म के साहचर्य के बिना पुण्य का बन्ध होता हो। यह भी निश्चित है कि शुभ या अशुभ प्रवृत्ति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना कोई भी काम नहीं हो सकता। अतः धर्म के बिना पुण्य नहीं--यह बात सैद्धांतिक एवं तार्किक--उभय दृष्टि से संगत है।

प्रश्न--कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि मिथ्यात्वी धर्म नहीं कर सकता, परन्तु पुण्य बांधता है--इसका समाधान कैसे होगा?

उत्तर--आत्मा का वह परिणाम धर्म ही है, जो आत्मा को उज्ज्वल बनाता है। मिथ्यात्वी शुभ क्रिया करता है। उससे कर्म अलग होते हैं। कर्म अलग होने से आत्मा उज्जवल होती है, इसलिए उसकी शुभ क्रिया धर्म है। यदि मिथ्यात्वी के आत्मा की उज्ज्वलता न मानी जाए तो फिर आत्मा उज्ज्वल हुए बिना मिथ्यात्वी मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वी कैसे बन सकता है?

४. पाप

पाप अशुभकर्म का उदय है। पहले बन्धा हुआ अशुभ कर्म उदय में आकर जब अशुभ फल देता है। तब वह पाप कहलाता है पाप अठारह प्रकार का है :

१. *प्राणातिपात*--प्राण-वियोजन से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।
२. *मृषावाद पाप पाप*--झूठ बोलने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।
३. *अदत्तादान पाप*--चोरी करने से आत्मा के साथ चिकपने वाला पुद्गल-समूह।
४. *मैथुन पाप*--अब्रह्मचर्य सेवन से आत्मा के साथ चिपकनेवाला पुद्गल-समूह।
५. *परिग्रह पाप*--परिग्रह रखने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।
६. *क्रोध पाप*--क्रोध करने से आत्मा के साथ चिपकनेवाला पुद्गल-समूह।
७. *मान पाप*--मान करने से आत्मा के साथ चिपकनेवाला पुद्गल-समूह।
८. *माया पाप*--माया करने से आत्मा के साथ चिपकनेवाला पुद्गल-समूह।
९. *लोभ पाप*--लोभ करने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।
१०. *राग पाप*--राग करने से आत्मा के साथ चिपकनेवाला पुद्गल-समूह।
११. *द्वेष पाप*--द्वेष करने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।
१२. *कलह पाप*--कलह करने से आत्मा के साथ चिपकने वा पुद्गल-समूह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. *अभ्याख्यान पाप*–मिथ्या आरोप लगाने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।

१४. *पैशुन्य पाप*–चुगली करने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।

१५. *पर-परिवाद पाप*–निंदा करने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।

१६. *रति-अरति पाप*–असंयम में रुचि और संयम में अरुचि रखने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।

१७. *मायामृषा पाप*–माया सहित झूठ बोलने से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।

१८. *मिथ्यादर्शनशल्य पाप*–विपरीत श्रद्धारूपी शल्य से आत्मा के साथ चिपकने वाला पुद्गल-समूह।

ये भेद वास्तव में पाप तत्त्व के नहीं किन्तु जिन कारणों से पाप-कर्म बन्धता है, उन कारणों के अनुसार बध्यमान अवस्था की अपेक्षा से पाप को अठारह भागों में विभक्त किया गया है। प्राणों का वियोग करना योग आश्रव कहलाता है और प्राण-वियोग करने से जो कर्म बन्धता है, वह प्राणातिपात पाप कहलाता है। उस पुदगल-समूह का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने का हेतु प्राण-वियोजन है। यदि आत्मा के द्वारा प्राण-वियोजन नहीं किया जाता, तो वह पुद्गल-समूह भी आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता, अतः उस क्रिया से जो कर्म बन्धता है, वह उसी क्रिया के नाम से पुकारा जाता है।

जिस कर्म के उदय से जीव हिंसा करता है, असत्य बोलता है तथा उसी प्रकार अन्य पाप करता है, उस कर्म को प्राणातिपात पाप-स्थान, मृषावाद पाप-स्थान आदि कहा जाता है।

५. आश्रव

कर्म ग्रहण करनेवाली आत्मा की अवस्था को आश्रव कहा जाता है। वह जीव की अवस्था है, अतः जीव है। आत्मा द्वारा जो कर्म-पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं, वे अजीव हैं। आश्रव के मुख्य भेद पांच हैं :

१. मिथ्यात्व आश्रव–विपरीत श्रद्धान, तत्त्व के प्रति अरुचि।

२. अव्रत आश्रव–अत्याग भाव। पौद्गलिक सुखों के प्रति अव्यक्त लालसा।

३. प्रमाद आश्रव–धर्म के प्रति अनुत्साह। प्रमाद आश्रव की व्याख्या प्रायः निद्रा, विकथा आदि पांच प्रमाद के रूप में उपलब्ध होती है और इस परिभाषा से योग-आश्रव तथा प्रमाद आश्रव में कोई भेद ही नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य भिक्षु के अनुसार प्रमाद आश्रव आत्म-प्रदेशवर्ती अनुत्साह है, निद्रा आदि नहीं। निद्रा-विकथा आदि मन, वाणी और काययोग के कार्य हैं। योग-जनित कार्यों का समावेश योग-आश्रव में ही होता है, अन्यत्र नहीं। प्रमाद और योग आश्रव का भेद स्पष्ट है, जैसे--निद्रा आदि नैरन्तरिक नहीं, किन्तु प्रमाद आश्रव नैरन्तरिक है, इसलिए उन्होंने लिखा है--'तिण सूं लागे निरन्तर पापो रे।'

४. कषाय आश्रव--आत्म-प्रदेशों में क्रोध आदि चार कषायों की उत्पत्ति। मुख की लालिमा, भृकुटी आदि जो दृश्यमान विकार हैं, वह योग आश्रव है, कषाय-आश्रव नहीं। कषाय-आश्रव तो आत्मा की आंतरिक तप्ति है।

५. योग आश्रव--मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। इसके दो भेद हैं--शुभयोग आश्रव और अशुभयोग आश्रव।

शुभ योग से निर्जरा होती है। इस अपेक्षा से वह शुभ योग आश्रव नहीं किन्तु वह शुभ कर्म के बन्ध का कारण भी है, इसलिए वह शुभ योग आश्रव है।

प्रश्न--शुभ योग आश्रव क्यों ?

उत्तर--शुभ योग से दो कार्य होते हैं--शुभ कर्म का बन्ध और अशुभ कर्म की निर्जरा। शुभ कर्म का बन्ध होता है, इसलिए वह शुभ-योग आश्रव कहलाता है और कर्मों का क्षय होता है, इसलिए उसे निर्जरा कहा जाता है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि शुभ-योग अथवा शुभ-अध्यवसाय के बिना निर्जरा भी नहीं हो सकती और पुण्य का बन्ध भी नहीं हो सकता।

आत्मा की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है--बाह्य और आभ्यन्तर। जो बाह्य प्रवृत्ति होती है, उसे योग कहते हैं और जो आभ्यन्तर प्रवृत्ति होती है, उसे अध्यवसाय कहते हैं। योग तथा अध्यवसाय--ये दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं-शुभ और अशुभ। इनकी अशुभ प्रवृत्ति से पाप-कर्म बन्धता है और आत्मा मलिन होती है तथा शुभ प्रवृत्ति से निर्जरा होती है, आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य-कर्म बन्धता है।

एक ही कारण से दो काम कैसे हो सकते हैं, इसका शास्त्रीय न्याय यह है कि शुभ योग मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से तथा शुभ-नाम-कर्म के उदय से निष्पन्न होता है। शुभ योग क्षय, क्षयोपशम या उपशम से निष्पन्न होता है, इसलिए उस (शुभ योग) से निर्जरा होती है और वह उदय से भी निष्पन्न होता है, इसलिए उससे शुभ कर्म बन्धते हैं, अतः निर्जरा और पुण्य-बन्ध का कारण जो व्यावहारिक दृष्टि से एक ही जान पड़ता है, तात्त्विक दृष्टि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक नहीं है। निर्जरा का कारण शुभ योग का क्षायिक, क्षायोपशमिक या औपशमिक स्वभाव है और पुण्य-बन्ध का कारण औदयिक स्वभाव है। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक ही शुभ योग दो स्वभाव वाला है और उसके दो स्वभावों से ही दो काम होते हैं, एक स्वभाव से नहीं। जैसे एक ही सूर्य अपने दो स्वभावों से ही दो काम करता है--प्रकाश करता है और गरमी बढाता है। दीपक जलता है, उससे प्रकाश होता है और काजल भी बनता है। स्थूल-दृष्टि से यही जाना जाता है कि दीपक के एक ही स्वभाव से प्रकाश होता है और काजल बनता है, किंतु वास्तव में जो तेजोमय अग्नि, है उस कारण से प्रकाश होता है और तेल-बत्ती जलते हैं उस कारण से कार्बन (कोयले का अंश) जमा होकर काजल बनता है। गेहूं बोने से गेहूं निपजता है परन्तु साथ में तुड़ी भी होती है। शुभ योग रूपी गेहूं से निर्जरा रूपी गेहूं उपजता है, परन्तु पुण्य-रूपी तुड़ी से रहित नहीं उपज सकता, क्योंकि शुभ योग की वैसी स्थिति कहीं भी नहीं होती जहां नाम-कर्म का उदय न रहे, इसलिए जहां शुभ योग से निर्जरा होती है वहां पुण्य अवश्य बन्धता है। इस विषय में एक बात और ध्यान में रखने की है कि निर्जरा शुभ योग से होती है न कि शुभ योग आश्रव से।[1]

प्रश्न--शुभ योग से निर्जरा होती है और निर्जरा से मुक्ति होती है, परन्तु शुभ योग के साथ-साथ शुभ कर्मों का बन्ध भी चालू रहता है तब मुक्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर--आत्मा कर्म से इतनी आवृत है कि एक साथ उसकी मुक्ति नहीं होती। क्रमशः प्रयत्न करते-करते जैसे-जैसे निर्जरा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा विशुद्ध बनती जाती है। आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध मुख्यतः कषाय एवं योग की सहायता से होता है। जब कषाय प्रबल होता है तभी कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक संख्या में चिपकते हैं, अधिक काल तक रह सकते हैं और तीव्र फल देते हैं। जब कषाय निर्बल हो जाता है तब उसका बन्धन भी बलवान नहीं होता।

प्रश्न--शुभ योग मुक्ति का साधक है या बाधक ?

उत्तर--वह साधक भी है और बाधक भी। शुभ योग से निर्जरा होती

---

१. जयाचार्य ने लिखा है--

शुभ योगां ने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा। तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई सांभलो।।
शुभ जोगां करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे। कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी।।
ते शुभ जोग करीज रे, पुण्य बन्धे तिण कारणे। आश्रव जास कही ज रे, वारूं न्याय विचारिये।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, अतः मुक्ति का साधक है और शुभ योग से पुण्य बन्धता है, अतः मुक्ति का बाधक है।[२]

ईंधन जितना आर्द्र (गीला) होता है उतना ही प्रकाश के साथ-साथ धुआं भी रहता है। ठीक इसी तरह जब तक आत्मा के कषाय और योग आश्रव प्रबल होते हैं तब तक कर्म का बन्ध भी प्रबल होता है। जब कषाय का नाश हो जाता है तब अशुभ कर्म का बन्धन तो बिल्कुल ही रुक जाता है और जो शुभ-कर्म बन्धता है वह भी इतनी कम स्थिति का बन्धता है कि पहले समय में बन्धता है, दूसरे समय उदय में आ जाता है और तीसरे समय में नष्ट हो जाता हैं। इसलिए आत्मा की मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

आत्मा की मुक्ति होने में दो बाधाएं हैं :

१. कर्म का बन्ध होते रहना।

२. बंधे हुए कर्मों का क्षय नहीं होना।

बारहवें गुणस्थान में चार आश्रव तथा अशुभ योग आश्रव का निरोध हो जाता है, पाप-कर्म का बन्ध होना रुक जाता है। केवल शुभ-कर्म का बन्ध रहता है, वह भी अति अल्पस्थिति का (दो समय की स्थिति का) होता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी सर्वथा निरोध हो जाता है। योग का निरोध होने से शुभ कर्म का बन्ध भी रुक जाता है, अवशिष्ट कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा मुक्त हो जाती है।

योग आश्रव स्वतंत्र भी है और पूर्ववर्ती चार आश्रवों का बाह्य रूप में प्रदर्शन भी करता है।

आश्रव के पांच मुख्य भेदों का यह संक्षिप्त विवरण है। योग आश्रव के गौण (अवान्तर) भेद पन्द्रह हैं। इनका विवरण इस प्रकार है–

१. *प्रणातिपात आश्रव*–प्राणों का अतिपात–वियोजन करना, जीव-वध करना।

२. *मृषावाद आश्रव*–झूठ बोलना।

३. *अदत्तादान आश्रव*–चोरी करना।

४. *मैथुन आश्रव*–अब्रह्मचर्य सेवन करना।

५. *परिग्रह आश्रव*–धन, धान्य, मकान आदि पर ममत्व रखना।

६. *श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव*–श्रोत्रेन्द्रिय की राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति।

७. *चक्षुइन्द्रिय आश्रव*–चक्षुरिन्द्रिय की राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति।

२. छद्मस्थना शुभ याग रे, कर्म कटै छै तेह थी। क्षयोपशम-भाव-प्रयोग रे शिव-साधक छै तेह सुं।।
छद्मस्थना शुभ योग रे, पुण्य बन्धै छै तेह थी। उदयभाव सूं प्रयोग रे, शिव-बाधक इण कारणे।।

जचायकृत–साधक-बाधक-सोरठा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. *घ्राणेन्द्रिय आश्रव*–घ्राणेन्द्रिय की राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति।

९. *रसनेन्द्रिय आश्रव*–रसनेन्द्रिय की राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति।

१०. *स्पर्शनेन्द्रिय आश्रव*–स्पर्शन–इन्द्रिय की राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति।

११. *मन आश्रव*–मन की प्रवृत्ति।

१२. *वचन आश्रव*–वचन की प्रवृत्ति।

१३. *काया आश्रव*–काय की प्रवृत्ति।

१४. *भण्डोपकरण आश्रव*–भण्ड-पात्र, उपकरण-वस्त्र आदि को यतना-पूर्वक न रखना।

१५. *सूचि-कुशाग्र मात्र आश्रव*–किंचित् मात्र भी पापयुक्त प्रवृत्ति।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग आश्रव से अशुभ **कर्मों** का बन्ध होता है। शुभ **योग** की प्रवृत्ति से शुभ कर्म का बन्ध होता **है**। उस शुभ कर्म के बन्ध की अपेक्षा से शुभ योग आश्रव की कोटि में आता **है**। वह शुभयोग आश्रव कहलाता है।

६. संवर

कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। संवर आश्रव का विरोधी तत्त्व है। आश्रव कर्म-ग्राहक अवस्था है और संवर कर्म-निरोधक। आश्रव की भेद-संख्या बीस है और संवर की भी भेद-संख्या बीस है। प्रत्येक आश्रव का एक-एक संवर प्रतिपक्षी है, जैसे–मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी सम्यक्त्व संवर है। अव्रत आश्रव का प्रतिपक्षी व्रत संवर है। प्रमाद आश्रव का प्रतिपक्षी अप्रमाद संवर है। कषाय आश्रव का प्रतिपक्षी अकषाय संवर और योग आश्रव का प्रतिपक्षी अयोग संवर है। इसी प्रकार प्राणातिपात आदि पन्द्रह आश्रवों के अप्राणातिपात आदि पन्द्रह संवर प्रतिपक्षी हैं।

१. *सम्यक्त्व संवर*–विपरीत श्रद्धान का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी त्याग किए बिना सम्यक्त्व संवर नहीं हो सकता। अनन्तानुबन्धी चतुष्टय–क्रोध, मान, माया और लोभ के उपशम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और संवर अप्रत्याख्यानीय चतुष्टय के क्षयोपशम से होता है।[1]

२. *व्रत संवर*–व्यक्त और अव्यक्त आशा का परित्याग करना व्रत संवर है। जो पदार्थ न तो कभी काम में लाए गए और न कभी उनका नाम ही सुना गया तो भी उनकी आशा, उनको भोगने की लालसा जो बनी रहती है,

१. नव-पदार्थ, संवर-पदार्थ, ढाल १, गाथा १
नव ही पदार्थ श्रद्धै यथातथ्य, तिण ने कहीजे सम्यक्त्व-निधान।
पछे त्याग करे ऊंधा सरधण तणा, ते सम्यक्त्व संवर प्रधान।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका कारण अव्यक्त आशा ही है।

सम्यक्त्व-संवर और व्रत संवर--ये दोनों संवर त्याग करने से होते हैं, अन्यथा नहीं।

३. *अप्रमाद संवर*--आत्म-प्रदेश स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है।

४. *अकषाय संवर*--आत्म-प्रदेश स्थित कषाय (क्रोध, मन, काया और लोभ) का क्षय हो जाना अकषाय संवर है।

५. *अयोग संवर*--योग का निरोध होना अयोग संवर है।

अप्रमाद, अकषाय, अयोग--ये तीन संवर परित्याग करने से नहीं होते, किन्तु तपस्या आदि साधनों के द्वारा आत्मिक उज्ज्वलता से ही होते हैं।[1]

सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग--इन पांच संवरों के अतिरिक्त जो पन्द्रह भेद हैं, वे व्रत संवर के ही हैं। उन पन्द्रह भेदों में त्याग की अपेक्षा रहती है। सावद्य योग का त्याग करने से ही वे संवर होते हैं? शेष पन्द्रह भेद ये हैं--

१. प्राणातिपात-विरमण संवर
२. मृषावाद-विरमण संवर
३. अदत्तादान-विरमण संवर
४. अब्रह्मचर्य-विरमण संवर
५. परिग्रह-विरमण संवर
६. श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह संवर
७. चक्षुःइन्द्रिय-निग्रह संवर
८. घ्राणेनिद्रय-निग्रह संवर
९. रसनेन्द्रिय-निग्रह संवर
१०. स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह संवर
११. मनो-निग्रह संवर
१२. वचन-निग्रह संवर
१३. काय-निग्रह संवर
१४. भण्डोपकरण रखने में अयतना न करना।
१५. सूचि-कुशाग्रमात्र दोष सेवन न करना ।

प्रश्न--प्राणातिपात आदि पन्द्रह आश्रव योग-आश्रव के भेद हैं तो फिर प्राणातिपात-विरमण आदि पन्द्रह संवर अयोग संवर के भेद न होकर व्रत संवर के भेद क्यों?

उत्तर--अव्रत आश्रव का कारण सावद्य योग की प्रवृत्ति है अर्थात् प्राणातिपात आदि पन्द्रह आश्रव हैं। प्राणातिपात आदि पन्द्रह पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग नहीं, यह अव्रत-आश्रव है और ये पन्द्रह आश्रव प्रवृत्ति रूप हैं, मन, वचन और शरीर की असत् प्रवृत्ति से ही हिंसा आदि किए जाते हैं। प्रवृत्ति करना योग आश्रव हैं, अतएव वे सब उसी (योग आश्रव) के अन्तर्गत होते

---

१. नवपदार्थ संवर, ढाल १, गाथा ६
'प्रमाद आश्रव ने कषाय योग आश्रव, ये तो नहीं मिटे, कियां पच्चखाण।
ये तो सहजे मिटे छै कर्म अलग हुयां, तिण री अन्तरंग कीजो पहिचान।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। उन पन्द्रह आश्रवों का प्रत्याख्यान करने से अत्याग-भावना रूप अव्रत आश्रव का निरोध हो जाता है, व्रत संवर हो जाता है। उनके प्रत्याख्यान से अयोग संवर नहीं होता, इसका कारण यह है कि यौगिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है–शुभ और अशुभ। अयोग संवर इन दोनों का सर्वथा निरोध करने से होता है। अशुभ प्रवृत्तियों का आंशिक प्रत्याख्यान पांचवें गुणस्थान में और पूर्ण प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान में होता है, लेकिन शुभ प्रवृत्ति तेरहवें गुणस्थान तक चालू रहती है, उसका पूर्ण निरोध मुक्त होने से पूर्व चौदहवें गुणस्थान में ही होता है। अतः प्राणातिपात आदि सावद्य प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान में प्रधानतया व्रत संवर ही होता है। योग पर उसका असर सिर्फ इतना ही होता है कि मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति अशुभ नहीं होती। अपेक्षादृष्टि से आंशिक रूप में अयोग संवर हो भी सकता है पर वह अयोग संवर का अंश कहलाता है, अयोग संवर नहीं ।

७. निर्जरा

शुभ योग की प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा एक ही है फिर भी कारण को कार्य मानकर उसके बाहर भेद किए गए हैं। जिस प्रकार एक ही स्वरूप वाली अग्नि काठ, पाषाण, गोमय तथा तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही जाती है, वैसे ही तपस्याओं के भेद से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वह एक ही प्रकार की है।

निर्जरा के बारह भेद हैं:

१. *अनशन*–तीन या चार आहारों[1] का त्याग करना अनशन है। यह कम से कम एक दिन रात का और ज्यादा से ज्यादा छह मास तक का होता है।

२. *ऊनोदरी*–जितनी मात्रा में भोजन करने की रुचि है, उससे कम खाना, पेट को कुछ भूखा रखना ऊनोदरी है।

३. *भिक्षाचरी*–वृत्तिह्रास–अभिग्रह करना, जैसे –साधु अभिग्रह करता है कि इतने घरों से अधिक मैं आज भिक्षा ग्रहण नहीं करूंगा, आज यदि भिक्षा में अमुक पदार्थ न मिला तो भोजन नहीं करूंगा आदि।

४. *रस-परित्याग*–विगय (दूध, दही, मक्खन आदि) का परित्याग करना।

---

१. चार प्रकार का आहार–अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. *कायक्लेश*-आसन आदि करना तथा शरीर के ममत्व का त्याग करना।

६. *प्रतिसंलीनता*-इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से दूर रखना।

ये छह भेद बाह्य तपस्या के हैं। ये आत्म-शुद्धि के बहिरंग कारण हैं। ये प्रायः बाह्य-शरीर को तपाने वाले हैं, अतः इन्हें बाह्य-तप कहा गया है।

७. *प्रायश्चित्त*--जो काम आचरण के योग्य नहीं है, वैसा काम हो जाने पर उसकी विशुद्धि के लिए यथोचित अनुष्ठान करना अर्थात् अनुचित कार्य से मलिन आत्मा को शुद्ध-प्रवृत्ति के द्वारा विशुद्ध करना।

८. *विनय*-विनम्रता--मानसिक, वाचिक और कायिक अभिमान का परित्याग करना।

९. *वैयावृत्त्य*-आचार्य आदि की सेवा करना।

१०. *स्वाध्याय*-काल आदि की मर्यादा से आत्मोन्नति-कारक अध्ययन करना।

११. *ध्यान*-चित्त को अशुभ-प्रवृत्ति से हटाकर शुभ-प्रवृत्ति में एकाग्र करना।

१२. *व्युत्सर्ग*-काया की प्रवृत्ति (हलन-चलन आदि) तथा क्रोध आदि को छोड़ना।

ये छह भेद अन्तरंग तपस्या के हैं। ये आत्म-शुद्धि के अंतरंग कारण हैं। ये आत्मा की आंतरिक प्रवृत्तियों को तपाने वाले हैं, अतः इन्हें आभ्यन्तर तप कहा गया है।

संवर का हेतु निरोध है, निवृत्ति है। निर्जरा का हेतु प्रवृत्ति है। संवर के साथ निर्जरा अवश्य होती है। निर्जरा संवर के बिना भी होती है। उपवास में आहार करने का जो त्याग किया जाता है वह संवर है। उपवास में शारीरिक कष्ट होता है, शुभ भावना होती है, शुभ प्रवृत्ति होती है, उसस कर्म-निर्जरण होता है, उससे आत्मा उज्ज्वल होती है, अतः यह निर्जरा है, संवर के साथ होने वाली निर्जरा है। एक व्यक्ति भोजन करने का त्याग किए बिना ही आत्म-शुद्धि के लिए भूखा रहता है, यह संवर-रहित निर्जरा है। तात्पर्य इतना ही है कि निर्जरा शुभ-प्रवृत्ति-जन्य है, चाहे वह संवर के साथ हो या उसके बिना हो।

निर्जरा के दो प्रकार हैं--सकाम और अकाम। आत्म-विशुद्धि के लक्ष्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम-निर्जरा है और आत्म-विशुद्धि के लक्ष्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना की जानेवाली निर्जरा अकाम-निर्जरा है।

८. बन्ध

आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का दूध-पानी की तरह मिल जाना, सम्बन्धित हो जाना, एकीभाव हो जाना, **बन्ध** कहलाता है। बंध चार प्रकार का होता है—प्रकृति बंध, स्थिति बंध अनुभाग बंध, प्रदेश बंध।[1]

बन्ध शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार का होता है।

प्रश्न--बन्ध और पुण्य-पाप में क्या अन्तर है?

उत्तर--पुण्य पाप शुभ-अशुभ कर्म की उदीयमान अवस्था है और बंध पुण्य-पाप की बध्यमान अवस्था है।

जब तक कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ बंधे हुए, सत्ता रूप में विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा को सुख-दुःख नहीं होता। जब शुभ कर्म उदय में आते हैं तब आत्मा को सुख मिलता है और कर्मों की यही उदयावस्था पुण्य है। जब अशुभ कर्म उदय में आते हैं तब आत्मा को दुःख होता है और कर्मों की यही उदयावस्था पाप है। जब तक कर्म बन्धे रहते हैं तब वह बन्ध है और जब उन बन्धे हुए कर्मों का शुभाशुभ उदय होता है तब शुभ उदय को पुण्य और अशुभ उदय को पाप कहते हैं।

९. मोक्ष

अपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना निर्जरा और पूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना मोक्ष है। मुक्त आत्माएं जहां रहती हैं, उस स्थान को उपचार या समीपता से मोक्ष कहा जाता है, किन्तु वह मोक्ष तत्त्व नहीं। मोक्ष तत्त्व से सिर्फ मुक्त आत्माओं का अर्थ ग्रहण होता है।

मोक्ष प्राप्त करने के उपाय या साधन चार हैं :

१. *ज्ञान*-जिन पदार्थों का जैसा स्वरूप है, उनको वैसा ही जानना।

२. *दर्शन*-तात्त्विकरुचि,सम्यक् श्रद्धा।

३. *चारित्र*-आश्रव का निरोध करना।

४. *तपस्या*-ऐसी तपस्या, जिसमें किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, परिणाम विशुद्ध हो।

यह जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है, चारित्र से आने वाले कर्मों को रोकता है और तप से बंधे हुए कर्मों को तोड़कर आत्म-विशुद्धि करता है।

---

१. देखें बोल दसवां—बंध प्रकरण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक जीवन संघर्षमय है, कोलाहलमय है। वह पग-पग पर दुःख और विपत्तियों से भरा हुआ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के द्वारा हम ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां परम शांति है। उसे पाकर जीव कृत-कृत्य हो जाता है। यही सुख की परम सीमा है। यही परम गति है। यही मुक्ति है, मोक्ष है, निर्वाण है।

कुछ लोग स्वर्ग को ही सुख की अवधि मान बैठते हैं। उनकी दृष्टि में स्वर्ग-सुख ही परम-सुख है, परन्तु उस सुख का भी नाश होता है, अतः जैन दर्शन उसे परम-सुख नहीं मानता। देवताओं की आयु हमारी अपेक्षा बहुत लम्बी है फिर भी एक दिन उसका अन्त होता ही है। जिस पुण्य-बन्ध से स्वर्गलोक मिलता है, उसका भोग द्वारा क्षय हो जाने पर, जीव स्वर्गलोक से च्युत होकर पुनः हमारे ही लोक में जन्म लेता है। अतः पूर्ण सुख चाहने वाले स्वर्ग-सुख को परम-सुख नहीं मान सकते।

हम तो ऐसा सुख चाहते हैं, जिसका कभी अन्त न हो, जिसमें दुःख की किंचित् भी मिलावट न हो और जिससे बढ़कर दूसरा कोई भी सुख न हो। ऐसा अनन्त सुख सिवाय मुक्ति के और कहीं नहीं मिल सकता।

कुछ लोगों की मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष 'महाप्रलय' तक संसार में नहीं लौटते अर्थात् उनकी वह सुखमय स्थिति केवल 'महाप्रलय' तक ही स्थिर रहती है। महाप्रलय के बाद जब सृष्टि पुनः उत्पन्न होती है तब मुक्त जीव भी संसार में लौट आते हैं। ऐसी मान्यता वाले यह तर्क उपस्थित करते हैं कि मुक्त कभी वापस न आएं तो एक दिन सब जीव मुक्त हो जाएंगे और यह संसार जीवों से खाली हो जाएगा। जब यह सृष्टि अनादिकाल से चली आयी है तो अब तक सब जीवों को मुक्त हो जाना चाहिए था। किन्तु अब तक संसार का अभाव नहीं हुआ, इससे यही मालूम होता है कि महाप्रलय के बाद जब सृष्टि का पुनः निर्माण होता है तब वे मुक्त जीव पुनः जन्म लेकर संसार का क्रम चालू रखते हैं।

इस मान्यता के अनुसार यदि मुक्ति की अवधि मान ली जाए तब तो स्वर्ग और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रह जाता। हमारी आयु की अपेक्षा देवताओं की आयु बहुत लम्बी है और देवताओं की आयु की अपेक्षा ऐसे मुक्त जीवों की आयु बहुत लम्बी है। इससे तो मुक्त जीवों का सुख भी अवधि-सहित ठहर जाता है। एक न एक दिन उनके सुख की भी समाप्ति हो जाती है। ऐसी दशा में तो अनन्त सुख की कल्पना भी जीव के लिए स्वप्नवत् है। इसका अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो यह हुआ कि जीव अनन्तकाल तक भटकता ही रहेगा, उसका भटकना कभी बन्द नहीं होगा। उसे कभी भी अनन्त सुख नहीं मिलेगा।

जैन दर्शन के अनुसार अनन्त जीव मुक्त हो चुके हैं, अनन्त जीव मुक्त होंगे। संसार में अनंत जीव हैं और अनन्त जीवों की मुक्ति होने पर भी अनन्त जीव रह जाएंगे। संसार का अंत कभी नहीं होगा। वह अनादि और अनन्त है। गणित के विद्यार्थी को यदि पूछा जाए कि अनन्त संख्या में से यदि अनन्त की बाकी निकाली जाए तो शेष कितने रहेंगे ? जबाब मिलेगा, अनन्त ही शेष रह जाएगा। फिर अनंत जीवों वाला संसार खाली कैसे रहेगा?

अखिल विश्व के जीवों की संख्या से यदि मुक्त होने वाले जीवों की तुलना की जाए तो वह समुद्र के जल में बूंद के समान भी नहीं ठहरेगा। ऐसी हालत में यह शंका करना कि जीवों के मुक्त होने का क्रम बराबर जारी रहने एवं मुक्त जीवों के पुनः संसार में न लौटने पर सांसारिक जीवों की संख्या एक दिन समाप्त हो जाएगी, ठीक वैसा ही है जैसे यह शंका करना कि एक चींटी के जल उलीचते रहने से समुद्र का जल एक दिन समाप्त हो जाएगा।

जैन सिद्धांत के अनुसार सब कर्मों के सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिनके कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं, वे मुक्त जीव कर्मों के अभाव में संसार में पुनः आ ही कैसे सकते हैं? यदि वे पुनः संसार में आएं तो फिर कहना होगा कि वे मुक्त नहीं हैं।

मुख्यतया तत्त्व दो हैं--जीव और अजीव। किन्तु मोक्षसाधना के रहस्य को बतलाने के लिए उनके नौ भेद किए गए हैं। इन नौ भेदों में प्रथम भेद जीव का है, अन्तिम भेद मोक्ष का। बीच के भेदों में मोक्ष की साधक-बाधक अवस्थाओं का वर्णन है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप चैतन्य है। आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट करना चाहती है, किन्तु बाधक तत्त्व उसे अपने स्वरूप तक पहुंचने में बाधा डालते हैं। वह बाधक तत्त्व हैं अजीव, अचेतन। वह अचेतन होने के कारण स्वयं बाधा नही दे सकता। किन्तु आत्मा अपनी प्रवृत्ति के द्वारा उसे अपनाती है। आत्मा वह अवस्था आश्रव है। अपनाया हुआ अजीव (पुद्गल) तत्त्व आत्मा के साथ घुल-मिलकर उसके स्वरूप को दबाए रखता है। वह अवस्था बंध है। अपनाया हुआ अजीव (पुद्गल) तत्त्व आत्मा के साथ नियमित काल तक ही रह सकता है, उसके बाद वह जीव को सुख-दुःख का अनुभव कराता हुआ आत्मा से दूर हो जाता है। इस अवस्था का नाम पुण्य या पाप है। जब-जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस नियमित काल की अवधि के पूर्व ही आत्मा उसे (कर्म-पुद्गल समूह को) अपनी शुभ प्रवृत्ति के द्वारा अलग कर देती है, वह अवस्था निर्जरा है। स्वरूप-प्रकटन की उत्कट अभिलाषा से जब आत्मा कर्म को अपनाने की प्रवृत्ति को ग्रहण नहीं करती और पूर्व-संचित कर्मों को तोड़कर बंधन-मुक्त हो जाती है, वह अवस्था मोक्ष है।

जीव मूल तत्त्व है। अजीव उसका विरोधी तत्त्व है। बंध, पुण्य और पाप--तीनों जीव के द्वारा होने वाली अजीव की अवस्थाएं हैं और आत्मा के स्वरूप-प्रकटन में बाधक हैं। आश्रव आत्मा की बाधक अवस्था है। संवर और निर्जरा आत्मा की साधक अवस्थाएं हैं। मोक्ष आत्मा की स्वरूप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्द्रहवां बोल

आत्मा आठ

१. *द्रव्य आत्मा*
२. *कषाय आत्मा*
३. *योग आत्मा*
४. *उपयोग आत्मा*
५. *ज्ञान आत्मा*
६. *दर्शन आत्मा*
७. *चारित्र आत्मा*
८. *वीर्य आत्मा*

जीव की जितनी परिणतियां हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार की रूपान्तरित अवस्थाएं हैं, उतनी ही आत्माएं हैं। इसलिए वे सब अप्रतिपाद्य हैं--उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत बोल में प्रधानतः आठ आत्माओं का ही प्रतिपादन किया गया है :

१. *द्रव्य आत्मा*--चैतन्यमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड जीव।

२. *कषाय आत्मा*--जीव की क्रोध, मान, माया और लोभ--इन चार की कषायमय परिणति।

३. *योग आत्मा*--जीव की मन, वचन और काया--इन तीन की योगमय परिणति।

४. *उपयोग आत्मा*--जीव की ज्ञान-दर्शनमय परिणति।

५. *ज्ञान आत्मा*--जीव की ज्ञानमय परिणति।

६. *दर्शन आत्मा*--जीव आदि तत्त्वों के प्रति यथार्थ या अयथार्थ श्रद्धान।

७. *चारित्र आत्मा*--कर्मों का निरोध करने वाला जीव का परिणाम।

८. *वीर्य आत्मा*--जीव का सामर्थ्य विशेष।

आत्मा और जीव

आत्मा जीव का पर्यायवाची शब्द है। द्रव्य आत्मा और जीव का एक ही अर्थ है। कषाय जीव का कर्म-कृत दोष है। योग जीव की प्रवृत्ति है। उपयोग जीव का लक्षण है। ज्ञान जीव का गुण है। दर्शन जीव की रुचि है। चारित्र जीव की निवृत्ति रूप अवस्था है।

वीर्य जीव की शक्ति है। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य-आत्मा मूल है और शेष आत्माओं में से कोई उसका लक्षण है, कोई गुण तो कोई दोष। जिस प्रकार एक मूल आत्मा की यहां सात मुख्य-मुख्य परिणतियां बतलाई गई हैं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी प्रकार उसका जितने प्रकार का परिणमन होता है, उतनी ही आत्माएं अर्थात् अवस्थाएं हैं। सारांश यह हुआ कि जीव परिणामी-नित्य है। उसकी अवस्थाएं बदलती रहती हैं और वे अनंत हैं। आत्मा शब्द उन-उन शब्दों का बोधक है।

आत्मा का अस्तित्व

आत्मा-अमूर्त है। श्याम, पीत आदि वर्ण-रहित है, रूप-रहित है, अतः इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-ज्ञान का विषय केवल मूर्त-विषय ही है और इसी कारण इन्द्रिय-ज्ञान के पक्षपाती आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं, इन्द्रिय-ज्ञान से परे कोई वस्तु ही नहीं है। किन्तु ध्यान देने से यह कथन असंगत प्रतीत होगा। ज्ञान की अपूर्णता वस्तु के अभाव में कैसे मानी जा सकती है? सूक्ष्म यन्त्रों की सहायता से देखे जाने वाले कीटाणुओं का, उन यन्त्रों की अविद्यमानता में अभाव कैसे मान लें ? इन्द्रिय-ज्ञान पौद्गलिक साधनों की अपेक्षा रखता है। साधन जितने प्रबल होते हैं, ज्ञान उतना ही स्पष्ट होता है, परन्तु केवल मूर्त द्रव्य का, अमूर्त का नहीं। जिन पदार्थों को हम साधारणतया आंखों से नहीं देख सकते, उनको यंत्रों की सहायता से देख सकते हैं और जिनको यंत्रों की सहायता से भी नहीं देख सकते, उनको आत्मीय-ज्ञान का अधिक विकास होने से देख सकते हैं। इसलिए इन्द्रियग्राह्य नहीं होने के कारण ही आत्मा नहीं है, यह बात किसी भी दृष्टि से संगत नहीं है।

'इन्द्रियों से पदार्थों का बाहरी ज्ञान ही हो सकता है, अतः हम पदार्थों का बारीकी से निरीक्षण करने के लिए यन्त्रों का आविष्कार करते हैं और कुछ दूर तक सफल भी होते हैं। लेकिन इनका कुछ दिनों तक व्यवहार करने के पश्चात् इनमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता और हम पुनः नये अधिक शक्ति वाले यंत्रों का आविष्कार करते हैं। इस प्रकार नये-नये आविष्कार करने पर भी हम अनुभव करते हैं कि वास्तविक रहस्य का--पूर्णता का पता लगाने में हम अब भी कितने असहाय हैं और अन्त में हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि हमारा यन्त्र चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, इन्द्रिय-ज्ञान के परे की चीज हम जान ही नहीं सकते। इसलिए हम चाहे कितना ही समय या शक्ति क्यों न खर्च करें, हम उन यन्त्रों से पदार्थों के असली स्वरूप का पता लगा ही नहीं सकते। इन यन्त्रों द्वारा प्राप्त आज का ज्ञान कल अज्ञान में परिणत हो जाएगा। पिछले साल का ज्ञान आज अज्ञान प्रमाणित हो चुका है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इस शताब्दी का ज्ञान अगली शताब्दी में अज्ञान प्रमाणित होगा।'

अनुमान द्वारा आत्मा का बोध

अनुमान के द्वारा भी आत्मा का अस्तित्व जाना जा सकता है। हम हवा को नहीं देख सकते, फिर भी स्पर्श के द्वारा उसका बोध होता है। इसी प्रकार हम आत्मा को नहीं देख सकते, फिर भी अनुभव एवं ज्ञान करने की शक्ति से उसे जान सकते हैं।

'एक अन्धेरे कमरे में पर्दे पर सिनेमा की तसवीर दिखाई जा रही है। हम उन तसवीरों को देख रहे हैं। किसी ने उस कमरे की खिड़कियों एवं दरवाजों को खोल दिया। पर्दे पर तब सूर्य का प्रकाश पड़ने लगा और तसवीर दीखना बन्द हो गया। तसवीरें अब भी पर्दे पर हैं परन्तु हम देख नहीं सकते। इस हालत में क्या हम पर्दे पर तसवीरों के अस्तित्व को अस्वीकार कर सकते हैं? कभी नहीं। इसी प्रकार हमारे पूर्वजन्म की घटनावलियां हमारी आत्मा के साथ सम्बन्ध किए हुए हैं परन्तु हम उनके सम्बन्ध में जान नहीं सकते, फिर भी उनका अस्तित्व है। हमारे वर्तमान के इंद्रिय-ज्ञान ने उन घटनावलियों का ज्ञान रोक रखा है। अतः यदि हम इन्द्रियज्ञान रूपी दरवाजों और खिड़कियों को बन्द करके मानसिक एकाग्रता, आत्म-चिंतन या ध्यान-रूपी किरणों से जानने की चेष्टा करें तो अपने पूर्वजन्म की समस्त घटनावलियों, समस्त अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।'

आत्मा अमर है

आत्मा का न तो कभी जन्म ही हुआ और न कभी इसकी मृत्यु ही होगी। यह अनादि है, अनन्त है। अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है। शरीर की मृत्यु होने पर भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि जो व्यक्ति जैसा काम करता है उसका फल भी वही भोगता है। कर्त्ता एक हो और भोक्ता कोई दूसरा, ऐसा हो नहीं सकता। इस न्याय से इस लोक में इस जन्म में जिन कर्मों का फल भोगना बाकी रह जाता है उसको दूसरे भव में, दूसरे जन्म में भोगने के लिए उस आत्मा को पुर्नजन्म धारण करना ही पड़ेगा।

जीवात्मा की इस देह में जैसे बचपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसे दूसरे जन्म की भी प्राप्ति होती है। इसी शरीर में बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक हम नाना प्रकार के परिवर्तन देखते हैं। शरीर के बहुत अंशों में बदल जाने पर भी आत्मा नहीं बदलती। जो आत्मा बचपन में हमारे शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अन्दर थी वही वृद्धावस्था में रहती है। यदि ऐसा नहीं हो तो दस-बीस वर्ष पहले की कोई भी घटना हमें याद ही न रहे। जिस प्रकार वर्तमान शरीर में इतना परिवर्तन होने पर भी आत्मा नहीं बदलती, उसी प्रकार मरने के बाद दूसरा शरीर मिलने पर भी वह नहीं बदलती। वास्तव में शरीरों में परिवर्तन होता रहता है, आत्मा वही रहती है।

शरीर-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक क्षण में हमारी मृत्यु हो रही है। ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक सातवें वर्ष हमारे शरीर के समस्त पदार्थ सम्पूर्ण रूप से बदल जाते हैं, फिर भी हमारा अस्तित्व बीच में टूटने के बजाय बना रहता है। हम चौदह या इक्कीस वर्ष पहले की घटनावलियों को याद रख सकते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न भी कोई ऐसी वस्तु जरूर है, जो हमारे अस्तित्व को सर्वदा कायम रखती है—वह आत्मा ही है।

कोई भी मनुष्य यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूंगा अथवा मैं पहले नहीं था, परन्तु मनुष्य हर वक्त यह सोचता है कि मैं सदा से हूं और सदा रहूंगा। मनुष्य की इस स्वाभाविक धारणा को कोई हटा नहीं सकता ।

प्रश्न--आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कैसे कर सकता है।

उत्तर--सूक्ष्म शरीर--कार्मण शरीर के द्वारा।

प्रश्न--आत्मा हमें दीखता क्यों नहीं?

उत्तर--वह अमूर्त है।

प्रश्न--बिना देखे हम आत्मा का अस्तित्व कैसे मान लें?

उत्तर--नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता।

प्रश्न--आत्मा का रूप नहीं, आकार नहीं, तो फिर वह पदार्थ ही क्या?

उत्तर--रूप, आकार, वजन एक पदार्थ विशेष के निजी लक्षण हैं, सब पदार्थों के नहीं। पदार्थ का व्यापक लक्षण अर्थ-क्रिया-कारित्त्व है। पदार्थ वही है, जो प्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। पदार्थ का दूसरा लक्षण है--सत्। सत् का अर्थ यह है कि पदार्थ पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ तथा उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ अपने अस्तित्व को न त्यागे। आत्मा में पदार्थ के दोनों लक्षण घटित हैं। आत्मा का गुण चैतन्य है। उसमें जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। वह बाल्य, युवा, वृद्धत्व आदि अवस्थाओं तथा पशु, मनुष्य आदि शरीर का अतिक्रमण करती हुई भी चैतन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप को अक्षुण्ण रख पाती है। आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है। तत्काल उत्पन्न कृमि आदि जीवों के भी जन्म की आदि में शरीर का ममत्व देखा जाता है। यह ममत्व पूर्वाभास के बिना नहीं हो सकता। यदि पूर्वभव में शरीर के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ा ही नहीं तो फिर उसके बचाव की उसे क्यों प्रेरणा मिलती है और क्यों उसे सुरक्षित रखने का मोह होता है? यह मोह किसी कारण-विशेष से है, निष्कारण नहीं। कारण पूर्वजन्म के कर्म और संस्कार हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा कर्मों की कर्त्ता है और कर्म-फल की भोक्ता है। संसार में परिभ्रमण करानेवाली और मुक्ति में ले जानेवाली आत्मा ही है।

आत्मा नहीं है, इसका कोई भी प्रमाण युक्तिसंगत नहीं हैं। आत्मा है इसका सबसे बलवान् प्रमाण अचैतन्य-विरोधी चैतन्य है। चैतन्य चेतना पदार्थ का ही गुण है। अचेतन पदार्थ उसका उपादान कारण हो नहीं सकता।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह-परिमाण है। आत्मा न तो आकाश की भांति व्यापक है और न अणु-रूप। जब आत्मा को छोटा शरीर मिलता है तब वह सूखे चमड़े की भांति संकुचित हो जाती है और जब उसे बड़ा शरीर मिलता है तब उसके प्रदेश जल में तैल-बिन्दु की तरह फैल जाते हैं। आत्मा के प्रदेशों का संकोच और विस्तार बाधित नहीं है। दीपक के प्रकाश से इसकी तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण-शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध शरीर में रहती है। स्थूल शरीर-व्यापी आत्मा कृश शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-व्यापी आत्मा स्थूल शरीर वाली हो जाती है, अतः शरीर आत्मा का संकोच और विकास का स्वभाव स्वतः सिद्ध है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-प्रमाण मानने से वह अवयव-सहित हो जाएगी और अवयव-सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील होता है—अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है, अतः अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। घड़े का आकाश, पट का आकाश, इस प्रकार आकाश स-अवयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है। जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य और अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता। अतः वह नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादि कारणों से, पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। स्याद्वाददृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है।

व्यावहारिक रूप में पहचान के लिए जीव के ये भी लक्षण बतलाए गए हैं—सजातीय जन्म, सजातीय वृद्धि और सजातीय उत्पादन, विजातीय पदार्थों का आदान और स्वरूप में परिणमन अर्थात ग्रहण और उत्सर्ग।

सजातीय जन्म अर्थात् अपने ही प्रकार के किसी के शरीर से उत्पन्न होना। सजातीय वृद्धि अर्थात् उत्पन्न होने के बाद बढ़ना। सजातीय उत्पादन अर्थात् अपने ही समान किसी को उत्पन्न करना। विजातीय पदार्थ का आदान एवं स्वरूप-परिणमन का अर्थ है विजातीय आहार को ग्रहण करना और उसे पचाकर अपनी धातु के रूप में परिणत करना। जड़ पदार्थों में विजातीय द्रव्य का स्वीकरण एवं परिणमन नहीं देखा जाता। प्राणधारियों में विजातीय वस्तु का जैसे ग्रहण होता है, वैसे उत्सर्ग भी। उपरोक्त लक्षण प्राणियों में ही मिलते हैं, अप्राणियों में नहीं। ये लक्षण समस्त प्राणी में नहीं मिला करते, इसलिए उपलक्षण हैं।

कई लोग जीव को एक प्रकार का सर्व श्रेष्ठ यन्त्र सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसे अनेक यन्त्र हैं जो नियमित रूप से अपना-अपना काम करते हैं उसी प्रकार मनुष्य या प्राणी भी सबसे निपुण यन्त्र है, जो अपना काम करता रहता है। आत्मा नाम की कोई स्थिर वस्तु नहीं है—इस युक्ति की दुर्बलता को बताने के लिए उपरोक्त लक्षण उपयोगी हैं। यन्त्र चाहे कैसा भी अच्छा क्यों न हो किन्तु न तो वह अपने सजातीय यन्त्रों से उत्पन्न होता है, न उत्पन्न होने के बाद बढ़ता है और न किसी सजातीय यंत्र को उत्पन्न करता है। इसलिए आत्मा और यन्त्र की स्थिति एक जैसी नहीं। इसके अतिरिक्त खाना-पीना आदि आत्मा का कोई व्यापक लक्षण नहीं है। इन्जिन भी खाता है, पीता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी वह जीव नहीं है। मुक्त जीव न खाते हैं, न पीते हैं तो भी वे जीव हैं। इस प्रकार और भी अनेक लक्षण जीव की पहचान कराने के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं, परन्तु उन सब में जीव का व्यापक लक्षण चैतन्य ही है। कोई भी ऐसा जीव नहीं, जिसमें चैतन्य न हो। एक इन्द्रिय वाले जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव में, मन-सहित जीव में, अतीन्द्रिय जीव में, प्रत्यक्ष ज्ञान वाले जीव में—सभी में न्यूनाधिक रूप से चैतन्य या ज्ञान की मात्रा तीनों ही काल में निश्चित रूप से मिलेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि जो बुद्धिमान् होता है वही जीव है। बुद्धिमान् ज्ञान के अधिक विकास से कहलाता है, पर चैतन्य का अर्थ बुद्धिमान् होना नहीं। उसका अर्थ है जानने या अनुभव करने की शक्ति का होना। कम से कम अनुभव रूप ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा में मिलेगा ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोलहवां बोल

दंडक चौबीस

सात नारक का—दंडक एक पहला

भवनपति देवों के दण्डक दस

२. असुरकुकार का दंडक दूसरा
३. नागकुमार का दंडक तीसरा
४. सुपर्णकुमार का दंडक चौथा
५. विद्युत्कुमार का दंडक पांचवां
६. अग्निकुमार का दंडक छठा
७. द्वीपकुमार का दंडक सातवां
८. उदधिकुमार का दंडक आठवां
९. दिक्कुमार का दंडक नौवां
१०. वायुकुमार का दंडक दसवां
११. स्तनितकुमार का दंडक ग्यारहवां

तिर्यञ्च जीवों के दण्डक नौ (१२-२०)

१२. पृथ्वीकाय का दण्डक बारहवां
१३. अप्काय का दण्डक तेरहवां
१४. तेजस्काय का दण्डक चौहदवां
१५. वायुकाय का दण्डक पन्द्रहवां
१६. वनस्पतिकाय का दण्डक सोलहवां
१७. द्वीन्द्रिय का दण्डक सतरहवां
१८. त्रीन्द्रिय का दण्डक अठारहवां
१९. चतुरिन्द्रिय का दण्डक उन्नीसवां
२०. तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का दण्डक बीसवां

शेष दण्डक चार (२१-२४)

२१. मनुष्य पंञ्चेन्द्रिय का दण्डक इक्कीसवां
२२. व्यन्तर देवों का दण्डक बाईसवां
२३. ज्योतिष्क देवों का दण्डक तेईसवां
२४. वैमानिक देवों का दण्डक चौबीसवां

जहां प्राणी अपने कृत-कर्मों का फल, जो एक प्रकार का दण्ड है, भोगते हैं, उन स्थानों, अवस्थाओं को दण्डक कहते हैं। जीव अपने कर्मानुसार चार गतियों में चक्कर लगाता रहता है। चारों गतियों को कुछ और विस्तृत करने से उनके २४ विभाग होते हैं, जो दण्डक कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सात नरक--दण्डक पहला।

नीचे लोक में जो सात पृथ्वियां हैं, उन्हें नरक कहते हैं। वे क्रमशः एक-दूसरे के नीचे-नीचे हैं। एक दूसरे के बीच में बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर में (बीच की जगह में) घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश--ये क्रमशः नीचे-नीचे हैं। वे सात पृथ्वियां ये हैं :

१. रत्नप्रभा--रत्न-प्रधान पृथ्वी।
२. शर्कराप्रभा--कंकड-प्रधान पृथ्वी।
३. बालुकाप्रभा--रेती-प्रधान पृथ्वी।
४. पंकप्रभा--कीचड़-प्रधान पृथ्वी।
५. धूमप्रभा--धूम-प्रधान पृथ्वी।
६. तमःप्रभा--अंधकारमय पृथ्वी।
७. महातमःप्रभा--सघन अंधकारमय पृथ्वी।

नरक में सर्दी-गर्मी का भयंकर दुःख है ही, भूख-प्यास का दुःख और भी भंयकर है। भूख का दुःख इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सब कुछ भस्म कर जाने पर भी शांति नहीं होती, भूख की ज्वाला और भी तेज हो जाती है। कितना भी जल क्यों न पी लिया जाए, प्यास बुझती ही नहीं। इस दुःख के उपरांत बड़ा भारी दुःख उनको आपस के बैर और मार-पीट से होता है। जैसे सांप और नेवला जन्मजात शत्रु है, वैसे ही नारक जीव जन्मजात शत्रु हैं।

प्रथम तीन नरक भूमियों में परमाधार्मिक रहते हैं। परमाधार्मिक एक प्रकार से असुरदेव हैं जो बहुत क्रूर स्वभाव वाले और पाप-रत होते हैं। वे निर्दय और कुतूहली होते हैं। उन्हें दूसरों को सताने में ही आनन्द मिलता है। वे नारक जीवों को आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की तरह लड़ाते हैं और उनको लड़ते देखकर खुशी मनाते हैं। यद्यपि उन्हें अनेक सुख साधन प्राप्त हैं, परन्तु पूर्व जन्म कृत तीव्र दोषों के कारण उन्हें सताने में ही प्रसन्नता होती है।

रत्नप्रभा को छोड़कर बाकी छह भूमियों में न तो द्वीप, समुद्र और पर्वत-सरोवर ही हैं, न गांव, शहर आदि ही हैं, न वृक्ष, लता बादर वनस्पतिकाय हैं, न द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत तिर्यंच हैं, न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही हैं। रत्नप्रभा के सिवाय शेष छह स्थानों में सिर्फ नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव पाए जाते हैं। इस सामान्य नियम का अपवाद है उन नरक स्थानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पंचेन्द्रिय तिर्यंच का होना भी संभव है। मनुष्य की सम्भावना तो इस अपेक्षा से है कि केवली-समुद्घात करनेवाला मनुष्य सर्वलोक-व्यापी होने से उन नारक-स्थानों में भी आत्म-प्रदेश फैलाता है। मारणांतिक समुद्घातवाले मनुष्य की भी उन स्थानों तक पहुंच हैं। तिर्यञ्चों की पहुंच भी उन भूमियों तक है, परन्तु यह सिर्फ मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा से ही है। कुछ देव भी कभी-कभी अपने पूर्वजन्म के मित्र और शत्रु नारकों के पास उन्हें दुःख से मुक्त करने व दुःख देने के उद्देश्य से भी वहां जाया करते हैं।

भवनपति–दण्डक दूसरे से ग्यारहवें तक। ये देव भवनों में रहने के कारण भवनपति कहलाते हैं। उनके भवन नीचे लोक में है किन्तु श्रेणीबद्ध नहीं। एक दूसरे के भवनों में अंतर है, इसलिए इनके दस विभाग किए गए हैं–

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार,द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार ।

इनको नरक के बाद इसलिए बताया है कि उनके भवन पहले नरक के प्रस्तर में हैं। सभी भवनपति देव 'कुमार' इसलिए कहे जाते हैं कि वे देखने में मनोहर तथा सुकुमार हैं तथा वे क्रीड़ाशील हैं।

तीर्यञ्च –दण्डक बारहवें से बीसवें तक।

तिर्यञ्च में दण्डक स्थान नौ माने गए हैं।

प्रश्न–तिर्यञ्च कौन हैं?

उत्तर–देव, नारक और मनुष्य को छोड़कर बाकी के सभी संसारी जीव तिर्यञ्च कहे जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य सिर्फ पंचेन्द्रिय होते हैं पर तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक–सब प्रकार के जीव होते हैं। देव, नारक और मनुष्य–ये लोक के खास-खास भागों में पाए जाते हैं, किन्तु तिर्यञ्च का स्थान लोक के सब भागों में है। लोक का कोई भी भाग ऐसा नहीं, जिनमें तिर्यञ्च न हों।

तिर्यञ्च के नौ भेद हैं–

१. पृथ्वीकाय २. अप्काय ३. तेजस्काय ४. वायुकाय ५. वनस्पतिकाय ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय ९. तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय।

इनका एक-एक दण्डक होने से तिर्यञ्च के नौ दण्डक हो जाते हैं।

मनुष्य–दण्डक इक्कीसवां। मनुष्य पंचेन्द्रिय का केवल एक दण्डक माना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है।

व्यन्तर–दण्डक बाईसवां। सभी व्यन्तर देव मध्य लोक में रहते हैं। वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न स्थानों में जाया करते हैं। वे विविध प्रकार के पहाड़ों और गुफाओं के अन्तरों तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। वे आठ प्रकार के हैं :

१. पिशाच २. भूत ३. यक्ष ४. राक्षस ५. किन्नर ६. किंपुरुष ७. महोरग ८. गंधर्व। इन आठ प्रकार के व्यन्तरों के सब अलग-अलग चिह्न होते हैं। इनके चिह्न प्रायः वृक्ष-जाति के होते हैं। उनका एक दण्डक माना गया है।

ज्योतिष्क–दण्डक तेईसवां। प्रकाशमान विमानों में रहने के कारण ये देव ज्योतिष्क कहलाते हैं। हमें जो सूर्य-चन्द्र दीखते हैं, वे ज्योतिष्क देव नहीं, वे तो उनके विमान हैं। इन पर वे कभी-कभी क्रीड़ा करने आते हैं। उनका शाश्वतिक निवास पृथ्वी पर होता है। मनुष्य-लोक में जो ज्योतिष्क हैं वे सदा भ्रमण किया करते हैं।

वे पांच प्रकार के हैं--

१. सूर्य २. चन्द्र ३. ग्रह ४. नक्षत्र ५. तारा।

मनुष्य-लोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क-विमान स्थिर हैं। उनकी लेश्या और उनका प्रकाश भी एक समान रहता है।

समस्त ज्योतिष्कों का एक दण्डक माना गया है।

वैमानिक–दण्डक चौबीसवां।

ज्योतिश्चक्र से असंख्य योजन की दूरी पर छब्बीस देवलोक हैं। उनमें उत्पन्न होने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं। ये सबसे अधिक वैभवशाली होते हैं । ये दो भागों में बंटे हुए हैं–कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प का अर्थ है–मर्यादा। कल्पोपपन्न देवों में स्वामी, सेवक, बड़े-छोटे आदि की मर्यादाएं होती हैं। कल्पातीत देवों में स्वामी–सेवक का कोई भेद नहीं रहता। वे सब 'अहमिन्द्र' होते हैं।

कल्पोपपन्न-बारह हैं :

१. सौधर्म २. ईशान ३. सनत्कुमार ४. माहेन्द्र ५. ब्रह्मलोक ६. लांतक ७. महाशुक्र ८. सहस्रार ९. आनत १०. प्राणत ११. आरण १२. अच्युत।

इनमें जो देवता पैदा होते हैं, वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। लोकांतिक देव भी कल्पोपपन्न हैं। ये देव ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्ग के तीसरे रिष्ट नामक प्रतर में चारों दिशाओं-विदिशाओं में रहते हैं। ये विषय-रति से रहित होने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण देवर्षि कहलाते हैं। आपस में छोटे-बड़े न होने के कारण सभी स्वतंत्र हैं। ये तीर्थंकर के गृह-त्याग के समय उनके सामने उपस्थित होकर 'बुज्झह-बुज्झह' शब्द द्वारा प्रतिबोध करने के अपने आचार का पालन करते हैं।

कल्पोपपन्न देवों की जितनी भी जातियां हैं, उन सब में स्वामी-सेवक, छोटे-बड़े का भेद होता है।

१. *इंद्र*–सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी।

२. *सामानिक*–ये आयु आदि में इंद्र के समान होते हैं। ये भी पूज्य होते है परन्तु इनमें इन्द्रत्व नहीं होता।

३. *त्रायस्त्रिंश*–ये मंत्री या पुरोहित का काम करते हैं।

४. *पारिसद्य*–ये मित्र का काम करते हैं। (सदस्य)

५. *आत्म-रक्षक*–ये शस्त्र धारण किये हुये आत्म-रक्षक का काम करते हैं।

६. *लोकपाल*–ये सीमा की रक्षा करते हैं।

७. *अनीक*–ये सैनिक या सेनापति का काम करते हैं।

८. *प्रकीर्णक*–ये नगरवासी या देशवासी के समान हैं।

९. *आभियोग्य*–ये दास, सेवक या नौकर के बराबर होते हैं।

१०. *किल्विषिक*–ये अंत्यज के समान होते हैं।

कल्पोपपन्न देवों में दस प्रकार के भेद पाये जाते हैं परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्कों में सिर्फ आठ प्रकार के भेद पाये जाते हैं, त्रायस्त्रिंश और लोकपाल उनमें नही होते।

कल्पातीत–नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान में पैदा होने वाले देव कल्पातीत कहलाते हैं। बारह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक देवों के विमान हैं। लोक पुरुष के आकार जैसा है। ये नौ विमान इस पुरुष के ग्रीवा--गले के भाग में होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते हैं। इन नौ विमानों के ऊपर पांच विमान और हैं :

१. विजय २. वैजयंत ३. जयंत ४. अपराजित ५. सर्वार्थसिद्ध ।

ये विमान सबसे उत्तर--प्रधान होने के कारण अनुत्तर कहलाते हैं।

नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देव इन सात बातों में अधिक होते है –

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. स्थिति--आयुकाल।
२. प्रभाव।
३. सुख--इंद्रियजन्य-सुख।
४. द्युति--शरीर, वस्त्र, आभरण आदि की दीप्ति।
५. लेश्या की विशुद्धि।
६. इंद्रिय-विषय--दूर के विषयों को ग्रहण करने का इंद्रिय-सामर्थ्य।
७. अवधि--ज्ञान का सामर्थ्य।

नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों में चार बातें कम पायी जाती हैं, जैसे--

१. गति-गमन-क्रिया।
२. देह का परिमाण।
३. परिग्रह--धन, सम्पत्ति, विमान आदि।
४. अभिमान--अहंकार की मात्रा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सतरहवां बोल

लेश्या छह

१. *कृष्णलेश्या*
२. *नीललेश्या*
३. *कापोतलेश्या*
४. *तेजोलेश्या*
५. *पद्मलेश्या*
६. *शुक्ललेश्या*

जीव के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहते हैं। कर्म-युक्त आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। आत्मा के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण होता है और वे पुद्गल उसके चिंतन को प्रभावित करते हैं। पौद्गलिक सहायता के बिना विचारों का परिवर्तन नहीं हो सकता। अच्छे पुद्गल अच्छे विचारों के सहायक बनते हैं और बुरे पुद्गल बुरे विचारों के। यह एक सामान्य नियम है। किसी क्षेत्र में ऐसे अनिष्ट पुद्गल होते हैं कि वे शुद्ध विचारों को एकाएक बदल डालते हैं। जैन परिभाषा में आत्मीय विचारों को भाव-लेश्या और उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्य-लेश्या कहते हैं।

यद्यपि आत्मा का स्वरूप स्फटिक के समान स्वच्छ है, तो भी कर्म-पुद्गल से आवृत होने के कारण उसका स्वरूप विकृत रहता है और उस कर्म-जन्य विकृति की न्यूनता-अधिकता के आधार पर आत्मा के परिणाम (विचार) भले-बुरे होते रहते हैं। विचारधारा की शुद्धि एवं अशुद्धि में अनन्तगुण तरतमभाव रहता है। पुद्गलजनित इस तरतमभाव को संक्षेप में छह भागों में बांटा गया है। इन छह विभागों को लेश्या कहा जाता है। इनमें पहली तीन अधर्म लेश्याएं हैं और अन्तिम तीन धर्म लेश्याएं हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर रखे गए हैं।

१. कृष्णलेश्या–काजल के समान कृष्ण और नीम से अनन्तगुण कटु पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह कृष्णलेश्या है।

२. नीललेश्या–नीलम के समान नीले और सौंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह नीललेश्या है।

३. कापोतलेश्या–कबूतर के गले के समान वर्ण वाले और कच्चे आम के रस से अनन्तगुण कषैले पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह कापोतलेश्या है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. तेजोलेश्या–हिंगुल के समान रक्त और पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर पुद्गलों के संयोग से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह तेजोलेश्या है।

५. पद्मलेश्या–हल्दी के समान नीले तथा मधु से अनन्तगुण मिष्ट पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है, वह पद्मलेश्या है।

६. शुक्ललेश्या–शंख के समान श्वेत और मिसरी से अनन्तगुण मीठे पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा का जो परिणाम होता है, वह शुक्लेश्या है।

इन लेश्याओं के लक्षण इस प्रकार हैं :

मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाओं में असंयम रखना, बिना सोचे-समझे काम करना, क्रूर व्यवहार करना आदि कृष्ण लेश्या के परिणाम हैं।

कपट करना, निर्लज्ज होना, स्वाद-लोलुप होना, पौद्गलिक सुखों की खोज करना आदि नीललेश्या के परिणाम हैं।

कार्य करने एवं बोलने में वक्रता रखना, दूसरों को कष्ट देनेवाली भाषा बोलना आदि कापोतलेश्या के परिणाम हैं।

ममत्व से दूर रहना, धर्म पर रुचि रखना आदि तेजोलेश्या के परिणाम हैं।

क्रोध न करना, मितभाषी होना, इन्द्रिय-विजय करना आदि पद्मलेश्या के परिणाम हैं।

राग-द्वेष-रहित होना, आत्मलीन होना आदि शुक्ललेश्या के परिणाम हैं।

लेश्या-यंत्र

लेश्या	वर्ण	रस	गंध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्तगुण कटु	मृत सर्प की गंध से अनन्तगुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्तगुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सौंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्त-गुण कषैला		
तेजस्	हिंगुल (सिंदूर) के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्त-गुण मधुर	सुरभी कुसुम की गंध से अनन्तगुण इष्ट गंध	नवनीत (मक्खन) मे अनन्तगुण सुकुमार
पदम्	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त-गुण मिष्ट		
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्तगुण मिष्ट		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन छह लेश्याओं में प्रथम तीन अधर्म लेश्याएं हैं और अंतिम तीन धर्म लेश्याएं हैं। उदाहारण के द्वारा उनका तारतम्य समझाया गया है--

छह व्यक्ति जामुन के बाग में फल खाने गए। वहां पहुंचते ही पहला व्यक्ति बोला--'देखो अब जामुन का वृक्ष आ गया, इसे काट गिराना ही अच्छा है ताकि नीचे बैठे-बैठे ही अच्छे फल खा सकें।' ऐसा सुनकर दूसरे व्यक्ति ने कहा--'इससे क्या लाभ? केवल बड़ी शाखाओं को काटने से ही काम चल जाएगा।' तीसरे ने कहा--'यह तो उचित नहीं। छोटी-छोटी शाखाओं से भी तो हमारा काम निकल जाएगा।' चौथे ने कहा--'केवल फल के गुच्छों को तोड़ना ही काफी है।' पांचवें ने कहा--'हमें गुच्छे से क्या प्रयोजन ? सिर्फ फल ही तोड़कर लेना अच्छा है।' अन्त में छठे मनुष्य ने कहा--'ये सब विचार व्यर्थ हैं, हमें जितनी आवश्यकता है उतने फल तो नीचे गिरे हुए हैं ही, फिर व्यर्थ में इतने फल तोड़ने से क्या लाभ ?'

इस दृष्टांत से लेश्याओं का स्पष्ट रूप समझ में आ जाता है। पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्णलेश्या के हैं और क्रमशः छठे व्यक्ति के परिणाम शुक्ल लेश्या के हैं। यह दृष्टांत केवल परिणामों की तरतमता दिखाने के लिए है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अठारहवां बोल

दृष्टि तीन

१. *सम्यक्दृष्टि*

२. *मिथ्यादृष्टि*

३. *सम्यक्-मिथ्यादृष्टि*

साधारणतया दृष्टि का अर्थ है--चक्षु। परन्तु यहां पर दृष्टि शब्द का प्रयोग तत्त्व-श्रद्धा (तात्त्विक रुचि) के अर्थ में हुआ है।

सम्यक् अर्थात् पदार्थों के असली स्वरूप को जानने वाले की दृष्टि सम्यक्दृष्टि होती है। मिथ्या अर्थात् पदार्थों को मिथ्या माननेवाले की दृष्टि मिथ्यादृष्टि होती है। शेष तत्त्वों में यथार्थ विश्वास रखने वाले तथा किसी एक तत्त्व में सन्देह रखनेवाले की दृष्टि सम्यक्-मिथ्यादृष्टि होती है।

यहां सम्यक्त्वी की दृष्टि को सम्यक्दृष्टि, मिथ्यात्वी की दृष्टि को मिथ्यादृष्टि और सम्यक्-मिथ्यात्वी की दृष्टि को सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहा है। तीनों की दृष्टियां निरवद्य एवं विशुद्ध हैं। ये तीनों दृष्टियां मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से ही प्राप्त होती हैं।

प्रश्न--मिथ्यात्व और मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है?

उत्तर--मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का उदय भाव है और मिथ्यादृष्टि मोहनीयकर्म का क्षयोपशम भाव है। मिथ्यात्व का अर्थ है--तात्त्विक श्रद्धा की विपरीतता और मिथ्यादृष्टि का अर्थ है--मिथ्यात्वी में पायी जानेवाली दृष्टि की विशुद्धि।

जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है उसे सम्यक्दृष्टि, जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है उसे मिथ्यादृष्टि और जिसकी दृष्टि सम्यक्-मिथ्या होती है उसे सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। परन्तु यहां पहला अर्थ ही ठीक है। यहां गुणी का नहीं किन्तु गुण प्रतिपादन है।

सम्यक्दृष्टि एक गुण है। उससे सम्पन्न व्यक्तियों को सम्यक्त्वी कहा जाता है।

सम्यक्त्वी-प्राणी अनंतानुबंधी कषाय से विमुख हो जाते हैं। इनके हृदय में तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं रहते। सम्यक्त्व का हृदय की सरलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं निर्मलता से बहुत सम्बन्ध है। जिनके राग-द्वेष की भावना प्रबल होती है, उनमें यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा नहीं हो सकती। कई व्यक्ति गुरु आदि का उपदेश सुनकर राग-द्वेष का उपशम करते हुए सम्यक्त्व लाभ करते हैं और कई स्वयं राग-द्वेष को उपशांत करते हुए अपनी निर्मलता के कारण सत्य-मार्ग को पकड़ लेते हैं--उनमें सम्यक्त्व का अंकुर फूट पड़ता है।

सम्यक्त्व एक गुण-प्रधान वस्तु है। वह किसी जाति, समाज एवं व्यक्ति-विशेष के कारण प्राप्त नहीं होता। केवल आत्मशुद्धि से, क्रोध आदि का उचित उपशम होने से ही प्राप्त होता है। इसीलिए सम्यक्त्व की पहचान के लिए पांच गुणात्मक लक्षण बतलाए गए हैं :

१. शम--शांति।

२. संवेग--मुमुक्षा।

३. निर्वेद--अनासक्ति।

४. अनुकम्पा--करुणा।

५. आस्तिक्य--सत्यनिष्ठा।

सम्यक्त्व आत्मीय गुण है, वह हमें दिखाई नहीं देता, किन्तु जिस प्रकार धुएं के द्वारा अदृश्य अग्नि का पता चल जाता है, वैसे ही इन पांच लक्षणों से अदृश्य सम्यक्त्व को भी हम पहचान सकते हैं।

सम्यक्त्व के पांच दोष होते हैं। उनका आचरण करने वाले सम्यक्त्व से च्युत हुए बिना नहीं रहते। इसलिए सम्यक्त्वी इन दोषों से बचकर रहे :

१. *शंका*--लक्ष्य के प्रति सन्देह।

२. *कांक्षा*--लक्ष्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति।

३. *विचिकित्सा*--लक्ष्य-पूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता।

४. *परपाषण्ड प्रशंसा*--लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों की प्रशंसा।

५. *परपाषण्ड संस्तव*--लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों का परिचय।

मिथ्यावादियों की वैसी प्रशंसा और वैसा सम्पर्क, जिससे मिथ्यात्व को प्रोत्साहन मिले।

इन आत्मघाती दोषों से दूर रहनेवाले व्यक्ति को सम्यक्त्वी समझना चाहिए। सम्यक्त्वी के पांच भूषण होते हैं--

१. *स्थैर्य*--तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म में स्वयं स्थिर रहना और दूसरों को स्थिर करने का प्रयत्न करना।

२. *प्रभावना*--धर्म-शासन के बारे में फैली हुई भ्रांत धारणाओं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निराकरण करना और उसके महत्त्व को प्रकाश में लाना।

३. भक्ति–धर्म-शासन की भक्ति या बहुमान करना।

४. कौशल–तीर्थंकर द्वारा कथित तत्त्वों को समझने और समझाने में निपुणता प्राप्त करना।

५. तीर्थ-सेवा–साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका–ये चार तीर्थ हैं। इनकी यथोचित सेवा करना।

सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए छह स्थानों को जानना भी आवश्यक है, जैसे–

१. आत्मा है।

२. आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है।

३. आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है।

४. आत्मा अपने कृत कर्म-फल को भोगता है।

५. आत्मा कर्म-फल से मुक्त होता है।

६. आत्मा के मुक्त होने के साधन हैं।

मिथ्यात्वी दो प्रकार के होते हैं :

१. आभिग्रहिक २. अनाभिग्रहिक।

प्रबल-कषाय के कारण जो लोग असत्य के पक्षपाती और दुराग्रही होते हैं, उन्हें आभिग्रहिक कहा जाता है।

जो सत्य-तत्त्व परीक्षा का अवसर न मिलने के कारण ही मिथ्यात्वी हैं, जिनमें असत्य का कोई पक्षपात नहीं है, वे अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी कहे जाते हैं।

मिथ्यात्वी सब बातों में भ्रांत रहते हैं एवं उनकी धार्मिक प्रवृत्तियां भी लाभदायक नहीं, ऐसा मानना एकांत भ्रम है। बहुधा यह पूछ लिया जाता है कि अमुक व्यक्ति सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी, पर यह कोई पूछने का विषय नहीं, यह तो अनुभवगम्य हैं। निश्चयदृष्टि से तो कौन कह सकता है, परन्तु व्यवहार में मिथ्यात्वी एवं सम्यक्त्वी को पहचानने के लिए भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाए गए हैं। जिनमें जैसे लक्षण मिलते हैं, उन्हें वैसा ही समझ लेना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्नीसवां बोल

ध्यान चार

१. आर्त्तध्यान *३. धर्मध्यान*

२. रौद्रध्यान *४. शुक्लध्यान*

ध्यान का अर्थ है–चिन्तनीय विषय में मन को एकाग्र करना, एक विषय पर मन को स्थिर करना अथवा मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध करना।

ध्याता ध्यान के द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसमें सफल भी होता है। ध्येय की इष्टता और अनिष्टता के आधार पर ध्यान भी इष्ट और अनिष्ट बन जाता है। सामान्यतः ध्येय अपरिमित है। जितने मनुष्य हैं, उन सबकी एकाग्रता विभिन्न होती है। उनका प्रतिपादन करना असंभव है। संक्षेप में उसके चार भाग किए गए हैं। जितनी अनात्माभिमुख एकाग्रता है, वह सब आर्त्त व रौद्र ध्यान है, जितनी आत्माभिमुख एकाग्रता है, वह सब धर्म व शुक्लध्यान है। आर्त्त और रौद्र संसार के कारण हैं, अतः हेय हैं। धर्म और शुक्ल मोक्ष के कारण हैं, अतः उपादेय हैं।

१. आर्त्तध्यान–अर्ति का अर्थ है--पीड़ा या दुःख। उसमें होने वाली एकाग्रता को आर्त्तध्यान कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं और उन्हीं कारणों को लेकर आर्त्तध्यान के चार भेद किए गए हैं:

(क) अनिष्ट-संयोग–अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए निरन्तर चिन्ता करना।

(ख) इष्ट-वियोग-किसी इष्ट मनोनुकूल वस्तु के चले जाने पर उसकी पुनः प्राप्त के निमित्त निरन्तर चिंता करना।

(ग) प्रतिकूल-वेदना–शारीरिक, मानसिक पीड़ा या रोग होने पर उसे दूर करने की निरन्तर चिन्ता करते रहना।

(घ) भोग-लालसा–भोगों की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अप्राप्त भोग्य वस्तु को प्राप्त करने का तीव्र संकल्प करना, मन को निरन्तर उसी में लगाए रहना।

२. रौद्रध्यान–जिसका चित्त क्रूर और कठोर हो, वह रुद्र होता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके ध्यान को रौद्र ध्यान कहा जाता है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों को मजबूती से संभालकर रखने की वृत्ति से क्रूरता व कठोरता पैदा होती है और इसी कारण जो निरन्तर चिन्ता हुआ करती है, वह अनुक्रम से हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषय-संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।

३. धर्मध्यान--धर्मध्यान के चार भेद हैं :

(क) आज्ञा विचय--वीतराग या सर्वज्ञ की आज्ञा (उपदेश) पर चिंतन करना। उस विषय में निरन्तर सोचते रहना।

(ख) अपाय विचय--दोष क्या हैं? उनका स्वरूप क्या है? उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है? इन विषयों में मनोयोग देना, निरन्तर चिंतन करना।

'मैंने इस जीवन में आत्म-कल्याण का कौन-सा कार्य किया या कौन-सा काम ऐसा बाकी है, जिसको मैं कर सकता हूं किन्तु नहीं कर रहा हूं? क्या मेरी स्खलना कोई दूसरा देखता है या मैं स्वयं देखता हूं? मैं किस स्खलना को नहीं वर्जता हूं।[1]

'अपनी आत्मा की दुष्ट-प्रवृत्ति जैसा अनर्थ करती है, वैसा अनर्थ कण्ठ छेदनेवाला शत्रु भी नहीं करता।[2]

इस प्रकार का चिंतन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

(ग) विपाक विचय--अनुभव में आनेवाले विपाकों में से कौन-कौन-सा विपाक किस-किस कर्म का है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक सम्भव है--इनके विचारार्थ मनोयोग लगाना।

(घ) संस्थान विचय--लोक के स्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना।

४. शुक्लध्यान--शुक्लध्यान के चार भेद हैं :

(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार--पृथक्त्व का अर्थ है भिन्नता, वितर्क का अर्थ है श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ है एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर और शब्द से अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करना।

इस ध्यान में श्रुतज्ञान के आधार पर चेतन या अचेतन पदार्थ में उत्पाद, विनाश, निश्चलता, रूपित्व, अरूपित्व, सक्रियत्व, निष्क्रियत्व आदि पर्यायों का

१. किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं किं सक्कणिज्जं न समायरामि।
किं मे परो पासइ किं व अप्पा, किं चाहं खलिअं न विवज्जयामि॥
२. न तं अरि कंठ छेत्ता करेई, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन किया जाता है। चिन्तन का परिवर्तन होता रहता है। यह भेद-प्रधान है।

(ख) एकत्व-वितर्क-अविचार--एकत्व का अर्थ है अभिन्नता, वितर्क का अर्थ है श्रुतज्ञान और अविचार का अर्थ है एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर और शब्द से अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति नहीं करना। इसमें ध्यान करने वाला किसी एक शब्द और अर्थ को लेकर चिंतन करता है। मन आदि तीन योगों में से किसी एक योग पर अटल रहकर चिंतन करता है। किन्तु भिन्न-भिन्न शब्द, अर्थ, योग आदि में संचार--परिवर्तन नहीं करता। यह अभेद-प्रधान है।

भेद-प्रधान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के पश्चात् अभेद-प्रधान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समूचे शरीर में फैले हुए सांप के जहर को मंत्र आदि उपायों से सिर्फ डंक की जगह में लाकर स्थापित किया जाता है, वैसे ही सारे जगत् के भिन्न-भिन्न विषयों में चंचल और भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी एक विषय पर लगाकर स्थिर किया जाता है। एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही मन भी सर्वथा शान्त और निष्कम्प बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ज्ञान के सकल आवरण हट जाते हैं।

(ग) सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती--जब केवली सूक्ष्म-शरीर योग का आश्रय लेकर बाकी के सब योगों (मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों) को रोक देते हैं तब सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। इसमें श्वासोछ्वास सरीखी सूक्ष्म क्रिया ही बाकी रह जाती है। इस अवस्था में पहुंचा हुआ साधक नीचे की अवस्थाओं में नहीं आता, इसी में स्थिर रह जाता है।

(घ) समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति--जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रिया भी बन्द हो जाती है और आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्कंप हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति ध्यान कहलाता है। इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया नहीं रहती। यह स्थिति एक बार प्राप्त होने पर फिर कभी जाती नहीं। इस ध्यान के प्रभाव से शेष सब कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष हो जाता है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी प्रकार के श्रुत-ज्ञान का आलम्बन नहीं होता, अतः ये दोनों अनालम्बन होते हैं।

सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती और समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति के अतिरिक्त सब ध्यान चिन्तनात्मक होते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति तक चिन्तनात्मक ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। केवली के सिर्फ योग-निरोधात्मक ध्यान ही होता है। मुक्त होने से अन्तर्मुहूर्त्त पहले मनोयोग का, उसके बाद वचनयोग का, उसके बाद काययोग का और उसके बाद श्वासोच्छ्वास का निरोध हो जाता है। तब चौदहवां अयोगी गुणस्थान आ जाता है। आत्मा की सब प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। यह आत्मा की शैलेशी—मेरु की भांति अडोल अवस्था है। इस अवस्था से आत्मा मुक्त बनती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीसवां बोल

द्रव्य छह

१. धर्मास्तिकाय	*४. काल*
२. अधर्मास्तिकाय	*५. पुदगलास्तिकाय*
३. आकाशास्तिकाय	*६. जीवास्तिकाय*

द्रव्य --जिसमें गुण और पर्याय होते हैं, उसको द्रव्य कहते हैं।

गुण--अविछिन्न रूप से द्रव्य में रहने वाला, द्रव्य का जो सहभावी धर्म अर्थात् द्रव्य को त्याग कर अन्यत्र न जा सकने वाला स्वभाव है, वह गुण कहलाता है। गुण द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो सकता।

पर्याय--द्रव्य की जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, उसका नाम पर्याय है।

द्रव्य पूर्व प्राप्त अवस्थाओं को छोड़ता है और उत्तर अवस्थाओं को प्राप्त करता चला जाता है, फिर भी अपने स्वरूप को नहीं त्यागता। वह दोनों अवस्थाओं में अपने स्वरूप को सुरक्षित रखता है। सोने के रूप में परिणत जो पुद्गल हैं, वे सोने की आकृति के परिवर्तन के साथ-साथ नाना प्रकार की अवस्थाओं को पाते हैं। सोने की कभी अंगूठी बना दी जाती है, कभी कंगन, तो कभी कड़ा। फिर भी सोना-सोना ही रहता है। परिवर्तन तो सिर्फ आकृतियों का होता है सोना कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं, वह पुद्गल द्रव्य की अनंत अवस्थाओं में से एक अवस्था है। आज जो पुद्गल स्कंध सोने के रूप में परिणत हैं, वे भी एक दिन सोने के रूप को त्याग कर मिट्टी के रूप में बदल सकते हैं, मिट्टी के रूप को त्यागकर पुनः कोई नया रूप धारण कर सकते हैं। इस प्रकार उनका भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिणमन होने पर भी उनका द्रव्यत्व बना रहता है। पुद्गल द्रव्य का लक्षण वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है। जब वह पुद्गल समुदाय सोने के रूप में रहता है तो भी उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श मिलते हैं। पुनः वह पुद्गल-समूह जब मिट्टी के रूप में बदल जाता है तब भी उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श मिलते हैं। वह पुद्गल-समूह चाहे किसी भी रूप में चला जाए, उसका लक्षण तो उससे दूर नहीं होगा। यदि वह पुद्गल-समुदाय, समुदाय की अवस्था को छोड़कार बिखर जाए, अर्थात् एक-एक परमाणु के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में अलग-अलग हो जाए तब भी प्रत्येक परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श मिलेंगे। द्रव्य की अवस्था बदलते रहने पर भी द्रव्य का स्वरूप वही रहता है। द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्य भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं त्यागता, अतः वह नित्य है और वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करता है अतः वह अनित्य है।

पुद्गल-द्रव्य के सिवाय शेष पांच द्रव्य अमूर्त (अरूपी) हैं, अतः दृष्टिगम्य नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं, फिर भी परमाणु या सूक्ष्म स्कन्ध शक्तिशाली यंत्रों की सहायता होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते। जो देखे जाते हैं, वे व्यावहारिक परमाणु हैं, वास्तव में वे अनंत-प्रदेशी स्कन्ध हैं।

वस्तु की विशेष जानकारी के लिए चौदह द्वार[1] बतलाये गए हैं। एक नवीन वस्तु को देखकर यह जानने की इच्छा होती है कि अमुक वस्तु कब तैयार हुई ? कैसे तैयार हुई? इसमें गुण क्या हैं? आदि-आदि।

प्रस्तुत बोल में केवल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण—इन पांच द्वारों से ही द्रव्य की मीमांसी की गई है।

द्रव्य—उसका स्वरूप क्या है ?

क्षेत्र—वह किस स्थान में प्राप्य है?

काल—वह कब उत्पन्न हुआ ? अब है या नहीं और कहां तक रहेगा?

भाव—वह किस अवस्था में है ?

गुण—वह जगत् का उपकारी है या नहीं, यदि है तो क्या उपकार करता है?

इन पांच प्रश्नों के द्वारा षट् द्रव्यों का स्वरूप समझाना इस बोल का उद्देश्य है।

१. धर्मास्तिकाय

यहां धर्म का अर्थ है--जो जीव और पुद्गल की गति में उदासीन सहायक होता है, वह द्रव्य। अस्तिकाय का अर्थ है प्रदेश-समूह।

द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है अर्थात् वह असंख्य प्रदेश का अविभाज्य पिण्ड है। एक कहने का अभिप्राय यह है कि वह एक ही है, बहु-व्यक्तिक नहीं।

क्षेत्र से वह सकल लोकव्यापी है--समूचे लोक में फैला हुआ है। काल से वह अनादि अनन्त है। वह न तो कभी उत्पन्न हुआ और न कभी उसका अन्त ही होगा अर्थात् वह त्रिकालवर्ती है। भाव से वह अरूपी (रूप-रहित) है।

---

१. निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण से वह चलने में उदासीन सहायक है।

प्रश्न--गतिशील पदार्थ कितने हैं?

उत्तर--गतिशील पदार्थ दो हैं--जीव और पुद्गल।

प्रश्न--गति-शक्ति धर्मास्तिकाय में विद्यमान है या जीव और पुद्गल में?

उत्तर--गति-शक्ति जीव और पुद्गल में है, धर्मास्तिकाय में नहीं। धर्मास्तिकाय केवल जीव और पुद्गल के हलन-चलन में सहकारी कारण है, जैसे--मछलियों के लिए जल। उसका उपादान कारण (आत्मीयकारण) जीव और पुद्गल ही हैं। धर्मास्तिकाय के बिना जीव व पुद्गल गमनागमन नहीं कर सकते, अतः धर्मास्तिकाय का अस्तित्व अनिवार्य है। तीनों ही काल में जीव तथा पुद्गल की गमन-क्रया विद्यमान रहती है, अतः उसका त्रिकाल वर्ती होना भी आवश्यक है। जीव और पुद्गल सम्पूर्ण लोक में गति करते हैं, अतः धर्मास्तिकाय का विश्व-व्यापी होना भी अनिवार्य है। कृष्ण आदि पांच वर्ण उसमें नहीं हैं, अतः उसका अरूपित्व भी निश्चित है। गुण के बिना वस्तु का अस्तित्व टिक नहीं सकता। धर्मास्तिकाय वस्तु है, अतः उसमें गति-क्रिया सहायक गुण विद्यमान रहना भी जरूरी है। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है, अतः जीव और पुद्गल वहां नहीं जा सकते।

२. अधर्मास्तिकाय

अधर्म का अर्थ है--जो स्थिति में उदासीन सहायक है, वह द्रव्य। अस्तिकाय का अर्थ है--प्रदेश-समूह।

द्रव्य से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है ।

क्षेत्र से वह समस्त विश्व में व्यापक है। काल से वह अनादि और अनन्त है। भाव से वह अरूपी है। गुण से वह स्थिर रहने में उदासीन सहायक है।

प्रश्न--स्थिर पदार्थ कितने हैं।

उत्तर--सभी पदार्थ स्थिर हैं। जीव और पुद्गल के सिवाय और सब पदार्थ तो स्थिर हैं ही, परन्तु जीव और पुद्गल में भी निरन्तर गति नहीं होती। वे कभी गति करते हैं, कभी स्थिर रहते हैं। चलना और स्थिर होना--यह क्रम बराबर चालू रहता है।

प्रश्न--अधर्मास्तिकाय गतिशील जीव तथा पुद्गल के स्थिर रहने में ही सहायक होता है या स्वभावतः स्थिर रहने वाले पदार्थों का भी सहायक होता है?

उत्तर--अधर्मास्तिकाय स्वभावतः स्थिर रहने वाले पदार्थों के स्थिर रहने में सहायक नहीं होता है। वह सहायक होता है केवल गतिशील पदार्थों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिर रहने में। जो स्वभावतः स्थिर हैं, उनको सहायता की कोई आवश्यकता नहीं। सहायता की जरूरत उन्हीं पदार्थों को होती है जो सदा स्थिर नहीं रहते। स्थिर रहने में उपादान अर्थात् आत्मीय-कारण स्वयं पदार्थ ही है, अधर्मास्तिकाय केवल सहाय मात्र है।

अधर्मास्तिकाय के बिना जीव व पुद्गल स्थिर नहीं रह सकते, अतः अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व अनिवार्य है। स्थिरता का अस्तित्व सम्पूर्ण लोक में है, अतः उसका सकल लोक-व्यापी होना भी जरूरी है--यह सब धर्मास्तिकाय की तरह समझना चाहिए। अलोक में अधर्मास्तिकाय का अभाव है। अतः वहां पदार्थों की स्थिरता का प्रश्न भी नहीं है, क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव और पुद्गल वहां जा ही नहीं सकते।

प्रश्न--धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध करने में आगम-प्रमाण ही उपलब्ध है या और कोई भी ?

उत्तर--अनुमान प्रमाण से भी इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। लोक व अलोक का विभाग इन्हीं से होता है। आकाश, लोक तथा अलोक--दोनों में व्याप्त है। जिस आकाश में धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय है, उसी में जीव व पुद्गल रहते हैं, अन्यत्र नहीं, इसीलिए उसका नाम लोकाकाश या लोक है। जिसमें जीव आदि देखे जाते हैं वह लोक है। जिसमें उक्त द्रव्य नहीं हैं उसका नाम अलोकाकाश या अलोक है। यदि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व न माना जाए तो फिर लोक व अलोक के विभाग का हेतु कोई भी पदार्थ नहीं मिलता, अतः सहज ही यह अनुमान होता है कि कोई ऐसा द्रव्य है, जो अलोक से लोक को पृथक् कर रहा है।

प्रश्न--अलोक है--यह सिद्धान्त ऐच्छिक है या प्रमाण सिद्ध?

उत्तर--आगम-प्रमाण-सिद्ध।

प्रश्न--जो जैनेतर दर्शन हैं, उनको क्या अलोक मानना ही होगा ?

उत्तर--जो लोक को मानते हैं वे अलोक को कैसे नहीं मानेंगे ? शुद्ध व्युत्पत्ति वाला नाम तभी होता है जब उसका दूसरा कोई न कोई प्रतिपक्षी पदार्थ मिलता है। प्रतिपक्षी पदार्थ के अभाव में किसी पदार्थ का नामकरण हो नहीं सकता। प्रकाश का प्रतिपक्षी अन्धकार है। साहूकार का प्रतिपक्षी चोर है। उष्ण का प्रतिपक्षी शीत है। मृदु का प्रतिपक्षी कठोर है। स्निग्ध का प्रतिपक्षी रुक्ष है--इत्यादि। जितने शुद्ध-व्युत्पत्तिक नाम हैं, वे सब-के-सब पदार्थों के विरोधी स्वभाव के कारण दिए गए हैं। 'लोक' शुद्ध व्युत्पत्तिक शब्द है। अतः अलोक के अस्तित्व से ही लोक का अस्तित्व जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. आकाशास्तिकाय

आकाश का अर्थ है--जिसमें जीव और पुद्गल को आश्रय प्राप्त है, वह द्रव्य। अस्तिकाय का अर्थ है--प्रदेश-समूह।

द्रव्य से आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशों का एक अविभाज्य पिण्ड है। एक कहने का उद्देश्य यह है कि वह पृथक्-पृथक् व्यक्ति रूप नहीं परन्तु संलग्न एकाकार है। क्षेत्र से वह लोक-अलोक--दोनों में व्याप्त है। काल से वह अनादि और अनन्त है। भाव से वह अमूर्त है। गुण से वह भाजन गुण वाला अर्थात् अवकाश की क्षमता वाला द्रव्य है।

प्रश्न--आधार कितने पदार्थ हैं आधेय कितने ?

उत्तर--एक आकाश द्रव्य आधार है, शेष सब द्रव्य आधेय हैं। आकाश भी अमूर्त्त होने के कारण हमें दिखाई नहीं देता फिर भी अनुमान और तर्क के बल पर उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। आधार के अभाव में कोई भी पदार्थ टिक नहीं सकता। घड़े में पानी इसलिए ठहरता है कि उसमें आश्रय देने का गुण विद्यमान है। कोई न कोई ऐसा व्यापक पदार्थ अवश्य होना चाहिए जो समस्त पदार्थों को आश्रय दे सके, वह आकाश ही है। यह सारा संसार उसी के गुण पर प्रतिष्ठित है।

त्रस, स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है। पृथ्वी का आधार जल है। जल का आधार वायु और वायु का आधार आकाश है। वायु, जल, पृथ्वी आदि आधार और आधेय--दोनों हैं। आकाश केवल आधार ही है, आधेय नहीं। पृथ्वी त्रस-स्थावर आदि प्राणियों का आधार है तथा स्वयं उदधि-प्रतिष्ठित है--जल पर टिकी हुई है, अतः आधेय है। उदधि पृथ्वी का आधार है परन्तु स्वयं वायु प्रतिष्ठित है, अतः आधेय है। वायु उदधि का आधार है परन्तु स्वयं, आकाश प्रतिष्ठित है, अतः आधेय है। आकाश वायु का आधार है और वह आत्म-प्रतिष्ठित है, अतः आधेय नहीं।

प्रश्न--आकाश अमूर्त है तो फिर उसका आसमानी रंग क्यों दिखाई देता है ?

उत्तर--यह रंग आकाश का नहीं है। वह जैसा यहां है वैसा ही सर्वत्र है। जो आसमानी रंग दृष्टिगोचर हो रहा है, वह दूरस्थित रजकणों का है। रजकण हमारे आस-पास भी घूमते रहते हैं, फिर भी सामीप्य के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते। दूरी व सघनता होने पर वही रजकण आसमानी वर्ण में दीखने लग जाते हैं। उँचे से बादल एक सघन-पिंड के रूप में दिखाई देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं पर निकट आने पर वे ऐसे प्रतीत नहीं होते। दूर से आकाश जमीन को छूता हुआ दीखता है, परन्तु पास आने पर ऐसा नहीं।

जो लोग केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं, उनकी मान्यता है कि स्पर्श, रस, रूप, गंध, शब्द आदि इन्द्रिय के विषय-भूत पदार्थ हैं, उनसे भिन्न कोई अमूर्त्त पदार्थ नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जब आकाश के अस्तित्व का प्रश्न सामने आता है तब वे असमंजस में पड़ जाते हैं। आकाश या उसके समान दूसरा कोई आश्रय देने वाला द्रव्य मानना ही होता है और वह दृष्टिगम्य नहीं होता, अतः उसकी जानकारी के लिए प्रत्यक्ष के सिवाय अनुमान आदि प्रमाण मानने की जरूरत हो ही जाती है।

आकाश लोक तथा अलोक--दोनों में व्याप्त है। लोक-आकाश के प्रदेश असंख्य हैं। उसका परिमाण चौदह रज्जु है। रज्जु का अर्थ एक कल्पना के द्वारा समझाया जाता है। एक व्यक्ति एक निमेष में एक लाख योजन की गति करता है। इस प्रकार की शीघ्र गति से छह महीने में वह जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है उतने क्षेत्र को एक रज्जु कहते हैं अथवा असंख्य योजन जितने क्षेत्र को रज्जु कहते हैं। लोकाकाश की तुलना धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा के प्रदेश के परिमाण से की जाती है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं और एक-एक आकाश-प्रदेश पर उनका-एक-एक प्रदेश फैला हुआ है। एक आत्मा के प्रदेश भी असंख्य होते हैं। केवली-समुद्घात के समय लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आत्मा का एक-एक प्रदेश व्याप्त हो जाता है।

आकाश का दूसरा भाग, जिसमें आकाश के सिवाय कुछ नहीं है, उसका नाम अलोक-आकाश है। यह लोक को चारों तरफ से घेरे हुए है और अनन्त है।

४. काल

मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास आदि काल-व्यवहार सिर्फ मनुष्य-लोक में ही होता है, उसके बाहर नहीं। मनुष्य-लोक के बाहर अगर कोई काल-व्यवहार करने वाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो वह मनुष्य-लोक के प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही करेगा। काल-व्यवहार सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्कों की गति पर ही निर्भर करता है। सिर्फ मनुष्य लोक के ज्योतिष्क ही गति क्रिया करते हैं, अन्य ज्योतिष्क गति-क्रिया नहीं करते। काल-विभाग ज्योतिष्कों की विशिष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गति के आधार पर ही किया जाता है। दिन,रात, पक्ष आदि जो स्थूल काल-विभाग हैं, वे सूर्य आदि की नियत गति पर अवलंबित होने के कारण उससे जाने जा सकते हैं। समय, आवलिका आदि सूक्ष्म काल-विभाग उससे नहीं जाने जा सकते। किसी एक स्थान में सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच के समय को दिन कहते हैं। इसी प्रकार सूर्यास्त से सूर्योदय तक के काल को रात कहते हैं। दिन और रात का तीसवां भाग मुहूर्त्त है। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष, पांच वर्ष का एक युग माना गया है। यह सब काल-विभाग सूर्य की गति पर निर्भर करता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमान काल, जो होने वाली है वह भविष्यत् काल और जो हो चुकी है वह भूतकाल है।

काल अस्तिकाय नहीं है। वह वास्तविक द्रव्य नहीं, काल्पनिक है।

अनागतस्यानुत्पत्तेः; उत्पन्नस्य च नाशतः।
प्रदेशप्रचयाभावात्, काले नैवास्तिकायता।।

अर्थात--अनागत काल की उत्पत्ति हुई नहीं, उत्पन्न काल का नाश हो जाता है, और प्रदेशों का प्रचय होता नहीं, अतः काल अस्तिकाय नहीं है।

द्रव्य से काल अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से वह मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप) प्रमाण है। काल से वह अनादि-अनन्त है। भाव से वह अमूर्त है। गुण से वह वर्तमान गुण वाला है।

प्रश्न-काल जब वास्तविक द्रव्य ही नहीं तो फिर उसकी कल्पना किसलिए है और उसके अनन्त द्रव्य कैसे हुए और वह अनादि-अनन्त कैसे हो सकता है?

उत्तर--काल के परमाणु और प्रदेश नहीं होते, अतएव वह काल्पनिक द्रव्य कहा जाता है।

काल की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि उसके बिना कोई भी कार्यक्रम निर्धारित नहीं हो सकता। छोटे से लेकर बड़े कार्य तक में काल की सहायता अपेक्षित होती है। भूत(हुआ), वर्तमान (है) और भविष्यत् (होगा)--इसके बिना किसी का काम चल नहीं सकता। यह उपयोगिता प्रत्यक्ष प्रमाणित है।

काल के परम सूक्ष्म भाग का नाम समय है। ऐसे समय भूत-काल में अनन्त व्यतीत हो गए। वर्तमान में ऐसा एक समय है। आगामी काल में ऐसे अनंत समय होंगे। अतः काल को द्रव्य दृष्टि से अनन्त व्यक्तिक माना गया है काल, जीव और पुद्गल जो अनन्त हैं, उन पर वर्तता है, इसलिए भी वह अनन्त द्रव्य कहा जाता है। काल का अनादिपन तथा अनन्तपन लोक-स्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर निर्भर है। जब लोक-स्थिति अनादि-अनन्त है, तब काल का अनादि-अनंत होना भी अनिवार्य है।

काल-विभाग--काल के विभाग द्वारा ही आयुष्य आदि का माप किया जाता है। वह इस प्रकार है--

अविभाज्य काल का नाम समय है। समय को समझने के लिए शास्त्रों में कई उदाहरण उपलब्ध हैं। एक शक्तिशाली युवक एक जीर्ण तंतु को जितने समय में फाड़ता है, उसके असंख्यातवें भाग का नाम समय है। चक्षु के उन्मेष में जो काल लगता है, उसके असंख्यातवें भाग का नाम समय है। बिजली का प्रवाह अति अल्पकाल में लाखों मीलों तक पहुंच जाता है और वह अत्यंत सूक्ष्म काल में जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है यदि उनके भाग किए जाएं तो असंख्य होते हैं। उस असंख्यातवें भाग को समय कहते हैं। इन उदाहरणों के आधार पर समय की सूक्ष्मता का अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

१. काल के विभाग : अविभाज्य काल = एक समय।
असंख्य समय = एक आवलिका।
२५६ आवलिका = एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
$२२२३ - \frac{१२२६}{३७७३}$ आवलिका = एक उच्छ्वास-निश्वास
$४४४६ - \frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या
साधिक १७ क्षुल्लक भव या = एक प्राण
एक श्वासोच्छ्वास
७ प्राण = एक स्तोक
७ स्तोक = एक लव
३८॥ लव एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव = दो घड़ी। अथवा ६५५३६ क्षुल्लक भव।
या १६७७७२१६ आवलिका अथवा
३७७३ प्राण। अथवा एक मुहूर्त (सामायिक-काल)
३० मुहूर्त = एक दिन=रात (अहोरात्र)
१५ दिन = एक पक्ष
२ पक्ष = एक मास
२ मास = एक ऋतु
३ ऋतु = एक अयन
२ अयन = एक वर्ष
५ साल = एक युग
७० क्रोड़ाक्रोड़ ५६ लाख क्रोड़वर्ष = एक पूर्व
असंख्य वर्ष = एक पल्योपम
१० क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम = एक काल-चक्र
२० क्रोड़ाक्रोड़सागर = एक काल-चक्र
अनन्त कालचक्र = एक पुद्गल-परावर्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो परिणमन का हेतु है, वर्तता रहता है, वह काल लोक में भी होता है और अलोक में भी। उसे निश्चय-काल कहते हैं और मुहूर्त, रात-दिन आदि विभाग वाला काल केवल मनुष्य-लोक में ही होता है, उसके बाहर नहीं। उसका आधार सूर्य और चन्द्रमा की गति है।

जो काल जानी हुई संख्या द्वारा गिना जा सकता है, वह संख्येयः, जो उस संख्या में नही आ सकता, सिर्फ उपमा के द्वारा गिना जा सकता है वह असंख्येय--जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि। जिस काल का अन्त ही नहीं है, वह अनन्त कहा जाता है।

५. *पुद्गलास्तिकाय*--जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श युक्त हो और जिसमें मिलने और पृथक् होने का स्वभाव विद्यमान हो, उसे पुद्गल कहा जाता है।

परमाणु भी पुद्गल का विभाग है, परन्तु यहां काय शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः अस्ति का अर्थ केवल प्रदेश ही संगत है। समुदित परमाणु ही प्रदेश कहलाते हैं, जैसे--दो संयुक्त परमाणुओं को द्वि-प्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है।

द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनन्त-द्रव्य है। पुद्गल-द्रव्य अन्य द्रव्यों की तरह अविभाज्य पिण्ड नहीं किन्तु विभाज्य है। परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं और समुदित होकर पुनः स्कन्ध रूप में परिणत हो जाते हैं।

क्षेत्र से वह लोक-प्रमाण है।

प्रश्न--लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं और पुद्गल अनंतानंत हैं। इस अवस्था में लोक-प्रमाण का अवगाह कैसे घट सकता है?

उत्तर --परिणमन की विचित्रता से परिमित लोक में अनंत पुद्गल रह सकते हैं। एक परमाणु एक आकाश प्रदेश में रह सकता है, वैसे द्वि-प्रदेशी, संख्यात-प्रदेशी, असंख्यात-प्रदेशी, यावत् अनंतप्रदेशी स्कंध भी परमाणु की भांति सघन परिणति के योग से एक आकाश -प्रदेश में रह सकते हैं और जब वे विकसित होते हैं तब द्वि-प्रदेशी दो आकाशप्रदेश में एवं असंख्य प्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी असंख्य प्रदेशात्मक लोक में फैल सकते हैं। किन्तु वे अपने प्रमाण से अधिक क्षेत्र में नही फैल सकते, जैसे--द्वि-प्रदेशी स्कंध दो-प्रदेश में फैल सकता है, तीन प्रदेश में नहीं। अल्प और अधिक प्रदेशों का अवगाहन करने में सघन और असघन परिणति ही कारण है। अधिक परमाणु वाला स्कंध भी सघन परिणति से अल्प क्षेत्र में रह सकता है और उसकी अपेक्षा अल्प परमाणु वाला स्कंध असघन परिणति से उससे अधिक क्षेत्र में रहता है। एक सेर पारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितने क्षेत्र को रोकता है उससे अधिक एक सेर लोहा और उससे अधिक एक सेर मिट्टी और उससे अधिक एक सेर रूई। यद्यपि रूई से मिट्टी का, मिट्टी से लोहे का, लोहे से पारे का पुद्गल प्रचय अधिक है। रूई से मिट्टी, मिट्टी से लोहे, लोहे से पारे की सघन परिणति है, अतएव क्षेत्र का रोकना भी क्रमशः अल्प, अल्पतर होता है। जैसे एक अनंत-प्रदेश स्कंध असंख्य-प्रदेशों में समा जाता है, वैसे ही अनंत-अनंत प्रदेशी स्कंध भी समा जाते हैं। एक कमरे में जहां एक दीपक का प्रकाश व्याप्त हो जाता है, वहां सैकड़ों दीपकों का प्रकाश भी समा सकता है। निबिड़तम लोहपिण्ड में भी धौंकनी की हवा से प्रेरित अग्नि-कण घुस जाते हैं और जब बुझाते हैं तब पानी के सूक्ष्म कण उसी लोह-पिण्ड के अन्दर घुस जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पुद्गल-परिणति की विचित्रता ही अल्प और अधिक क्षेत्र के अवगाहन का कारण है।

काल से पुद्गलास्तिकाय अनादि-अनन्त है। भाव से वह रूपी—मूर्त्त है। गुण से वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण वाला है।

हम जिनको आंखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, नाक से सूंघते हैं, त्वचा से छूते हैं, वे सब वस्तुएं पौद्गलिक हैं, इसलिए पुद्गल द्रव्य के लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्श बतलाए गए हैं।

पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। मूर्त्तवान वही द्रव्य हो सकता हैं जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हों। पुद्गल के सिवाय अन्य पांचों द्रव्य अमूर्त्त हैं, अरूपी हैं। उनमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं होते, इसीलिए हम आत्मा और धर्मास्तिकाय आदि को देख नहीं सकते। केवलज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञानों का विषय केवल पुद्गल-द्रव्य ही है। अमूर्त द्रव्य सिर्फ केवलज्ञान का ही विषय है। शब्द, गंध सूक्ष्मता, स्थूलता, छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि सभी पुद्गल द्रव्य की अवस्थाएं हैं।

शब्द—शब्द पौद्गलिक है। उसमें स्पर्श आदि पुद्गल के लक्षण विद्यमान हैं। पत्थर स्पर्शयुक्त है, उसके संघर्ष से शब्द उठता है, उसी प्रकार शब्द के टकराने से गुफा आदि में प्रतिनाद उठता है। टेलीफोन, टेलीग्राफ, वायरलेस, फोनोग्राम आदि से शब्द का पौद्गलिकत्व स्पष्ट ही है। यंत्र सिर्फ मूर्त्त द्रव्य को ही ग्रहण कर सकते हैं, अमूर्त्त द्रव्य को नहीं। पुद्गल के सिवाय अन्य सब द्रव्य अमूर्त्त हैं, अतः शब्द पौद्गलिक हैं।

बंध—बंध का अर्थ है एकत्व-परिणाम। इस एकत्व-परिणाम अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध से ही पौद्गलिक स्कन्ध बनता है। एक परमाणु का दूसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु के साथ सम्बन्ध होने में स्निग्धत्व (चिकनापन) और रूक्षत्व (रूखापन) की अपेक्षा रहती है। केवल संयोग मात्र से परमाणुओं के द्विअणु आदि स्कन्ध नहीं बनते। स्निग्धत्व और रूक्षत्व पूर्व-कथित आठ स्पर्शों में दो स्पर्श हैं। स्पर्श पुद्गल का स्वभाव है, इसलिए बन्ध भी पुद्गल की एक अवस्था है। अमूर्त्त द्रव्यों का बंध नहीं होता क्योंकि वे अविभाज्य हैं, उनके कोई पृथक् भाग नहीं हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है, जो एक-दूसरे के साथ मिलता है। जब अनन्त-परमाणु मिलते हैं तब अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध बन जाता है। कई अनन्त-प्रदेशी स्कंधों से किसी स्थूल वस्तु का निर्माण हो जाता है।

सूक्ष्मता-स्थूलता–ये भी पुद्गल में ही प्राप्त होती हैं। पुद्गल के सिवाय अन्य द्रव्य छोटे-बड़े, हल्के-भारी नहीं होते। पौद्गलिक वस्तु कोई छोटी होती है, कोई बड़ी, कोई हल्की होती है और कोई भारी। जिस वस्तु के पुद्गल अधिक फैले हुए होते हैं, वह बड़ी कहलाती है और जिस वस्तु के पुद्गल संकुचित होते हैं, वह छोटी कहलाती है। लघु स्पर्श वाली वस्तु का वजन कम होता है, अतः हल्की कहलाती है और गुरू स्पर्श वाली वस्तु का वजन अधिक होता है, अतः वह भारी कहलाती है।

छाया–छाया भी पौद्गलिक है। पौदगलिक पदार्थों के पुद्गल प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। पौद्गलिक वस्तुएं चय-अपचय धर्म वाली और रश्मियुक्त होती हैं। प्रतिक्षण उनमें से तदाकार रश्मियां निकलती रहती है, जो अपने अनुकूल सामग्री को पाकर उसी रूप में परिणत हो जाती हैं। इस पौद्गलिक परिणति का नाम छाया है। अस्वच्छ पदार्थ में होने वाली छाया दिन को श्याम और रात को काली होती है तथा स्वच्छ पदार्थ में छाया अपने-अपने आकार के जैसी ही होती है।

प्रकाश-अन्धकार–प्रकाश भी पौद्गलिक है। अन्धकार पदार्थ-प्रतिरोधक (आच्छादक) पुद्गल है। अन्धकार प्रकाश का अभाव नहीं परन्तु प्रकाश का विरोधी भावात्मक द्रव्य है। जैसे सघन वर्षा से अन्य पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं, केवल वही दिखती है, वैसे ही सघन अन्धकार भी अन्य पदार्थों को आच्छादित कर देता है और वही दिखाई देता है। दीवार, छत आदि जैसे अपने से भिन्न वस्तुओं को ढकने वाले होते हुए भी भावात्मक हैं, वैसे ही अन्धकार भी पदार्थों को ढकनेवाला भावात्मक द्रव्य है। वर्षा बन्द होने और दीवार आदि के फट जाने से परे की वस्तु दीखने लग जाती है, वैसे ही अन्धकार का नाश होने से समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर होने लग जाते हैं। अन्धकार अभावात्मक हो ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे सकता है जबकि उसका काला रंग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ? जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसमें वर्ण भी नहीं हो सकता। अतः अन्धकार पौद्गलिक है।

पुद्गल का संसारी जीवों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह अनेक प्रकार से उनके काम आता है।

'द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते'--अर्थात् संसारी जीवों का जितना भी वीर्य--पराक्रम है, वह सब पुद्गलों की सहायता से होता है। पुद्गल किस प्रकार संसारी जीवों के व्यवहार में आते हैं, इसे समझने के लिए भिन्न-भिन्न पुद्गल-वर्गणाओं को जान लेना जरूरी है।

वर्गणा--समान जातिवाले पुद्गल स्कन्ध। उनके अनेक भेद हैं, जैसे--मनोवर्गणा, भाषा-वर्गणा, शरीर-वर्गणा, औदारिक-वर्गणा, वैक्रिय-वर्गणा, आहारक-वर्गणा, तैजस-वर्गणा, कार्मण-वर्गणा, श्वासोच्छ्वास-वर्गणा।

जिस पुद्गल-समूह की सहायता से आत्मा विचार करने में प्रवृत्त होती है उसको मनोवर्गणा कहते हैं।

जिस पुद्गल-समूह की सहायता से आत्मा बोलने में प्रवृत्त होती है उसको भाषा-वर्गणा कहते हैं।

जिस पुद्गल-समूह की सहायता से आत्मा के पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति और हलन-चलन की क्रिया होती है, उसको शरीर-वर्गणा कहते हैं।

जिस पुद्गल-समूह से हमारा शरीर बनता है, उसे औदारिक-वर्गणा कहते हैं।

जिस पुद्गल-समूह से इच्छानुसार हम आकृतियों को बदल सकें--ऐसा शरीर बनता है, उसे वैक्रिय-वर्गणा कहते हैं।

जिस पुद्गल-समूह से विचित्र शक्तिशाली पुतला बनाया जाता है, उसे आहारक-वर्गणा कहते हैं। एक विशिष्ट योग-शक्ति-वाले योगी को जब कोई व्यक्ति गहन विषय का प्रश्न पूछता है और वह योगी उसे उत्तर देने में असमर्थ हो तब आहारक-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर वह योगी एक सुन्दर आकृति का पुतला बनाता है और उसे सर्वज्ञ के पास भेजकर उस प्रश्न का उत्तर मंगवाता है। पुतला प्रश्न का उत्तर लेकर वापस आता है। इस प्रकार योगी प्रश्नकर्त्ता को समुचित उत्तर दे देता है। ये सब क्रियाएं इतने कम समय में होती हैं कि पूछनेवाले को यह पता ही नहीं लगता कि मैंने अपने प्रश्न का उत्तर कुछ विलम्ब से पाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस पुद्गल-समूह से तैजस शरीर बनता है, उसे तैजस-वर्गणा कहते हैं।

जिस पुद्गल समूह से कार्मण शरीर बनता है, उसे कार्मण-वर्गणा कहते हैं।

जिन पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास रूप में ग्रहण किया जाता है, उन्हें श्वासोच्छ्वास-वर्गणा कहते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत सौ से अधिक तत्त्वों का पुद्गल द्रव्य में समावेश हो जाता है। वैज्ञानिकों की परिभाषा में तत्त्व वे पदार्थ हैं, जो किसी भी रासायनिक क्रिया से अपने स्वरूप और धर्म का परित्याग नहीं करते। सोना, चांदी, लोहा, गन्धक, पारा--ये तत्त्व हैं। इनको गरम या ठण्डा करके तरल या वाष्पीय बना सकते हैं, पर इनमें से कोई दूसरा पदार्थ नहीं निकल सकता। लोहा लोहा ही रहेगा और गन्धक गन्धक ही। दूसरा कोई पदार्थ, जो तत्त्वों के मेल से बनता है, उसे मिश्र कहते हैं, जैसे पानी मिश्र है। पानी के एक अणु में दो परमाणु हाईड्रोजन और एक परमाणु ऑक्सीजन का होता है। तत्त्व और मिस्र (Elements and Compounds)--ये दोनों वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त हैं, अतः पुद्गल द्रव्य हैं। अन्य दार्शनिक जिन मूर्तिमान वस्तुओं के लिए भौतिक शब्द का प्रयोग करते हैं, जैन-दर्शन उनके लिए पौद्गलिक शब्द का प्रयोग करता है।

६. जीवास्तिकाय

जीव का अर्थ है--प्राण धारण करनेवाला। अस्तिकाय का अर्थ है--प्रदेश-समूह।

प्रश्न--प्राण धारण करने वाले ही जीव हैं, इस परिभाषा में मुक्त आत्माओं का समावेश कैसे होगा ?

उत्तर --प्राण दो तरह के होते हैं--द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। द्रव्य-प्राण दस हैं, जो छठे बोल में बतलाए जा चुके हैं। भाव-प्राण ज्ञान, दर्शन आदि हैं। संसारी जीवों में दोनों ही प्रकार के प्राण पाये जाते हैं। मुक्त जीवों में सिर्फ भाव-प्राण होते हैं।

द्रव्य से जीव अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से वह लोक-प्रमाण है। काल से वह अनादि-अनन्त है। भाव से वह अरूपी है। गुण से वह चेतन गुणवाला है।

जीव के प्रदेश असंख्य हैं। ऐसे असंख्य प्रदेश वाले जीव अनन्त हैं। वे धर्मास्तिकाय आदि की तरह असंख्य प्रदेशात्मक एक ही अविभाज्य पिण्ड नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इसलिए जीवास्तिकाय को द्रव्य रूप से अनन्त द्रव्य कहा गया है।

जीवास्तिकाय को लोक-प्रमाण कहने का मतलब यह नहीं कि एक ही जीव सकल लोक में व्याप्त है। आशय यह है कि लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहां जीव न हो।

आत्मा न तो कभी उत्पन्न हुई और न कोई उसे उत्पन्न करने वाला है, अतः वह अनादि है। जिस तत्त्व का आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं होता। इसलिए जीव अनन्त भी है।

आत्मा अमूर्त है फिर भी स्व-संवेदन (अपनेपन का अनुभव) आदि से आत्मा का स्पष्ट रूप से भान होता है। यदि आत्मा न हो तो 'मैं हूं' ऐसा ज्ञान किसे होगा ? अनुमान से भी आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है। जब हमें अचेतन पदार्थ उपलब्ध हो रहा है तो उसका विरोधी कोई चेतन द्रव्य अवश्य ही मिलना चाहिए। क्योंकि प्रतिपक्षी पदार्थ के बिना सिर्फ एक द्रव्य का अस्तित्व जाना नहीं जा सकता। यदि चेतन नाम का कोई द्रव्य ही नहीं तो फिर चेतन-अचेतन–इस शब्द का अर्थ सृजन किसके आधार पर किया गया? अत्यन्ताभाव तभी दिखाया जाता है जबकि उसका कोई विरोधी पदार्थ होता है। चेतन और अचेतन में अत्यन्ताभाव है। अतः चेतन द्रव्य का अस्तित्व भी अनिवार्य है।

जीव का गुण चैतन्य है। जीव के असंख्य प्रदेश हैं। वे सब चेतना-धर्मी हैं। जीव असंख्य ज्ञानमय प्रदेशों का एक अविभाज्य पिण्ड है, किन्तु यह नहीं कि असंख्य आत्माएं मिलकर एक आत्मा बनती है। प्राणीमात्र में अनन्त ज्ञान विद्यमान है। परन्तु वह कर्म के आवरण से ढंका हुआ रहता है। कर्म का आवरण जितना बलवान् होता है, ज्ञान उतना ही अधिक दब जाता है और आवरण ज्यों-ज्यों दुर्बल होता जाता है त्यों-त्यों ज्ञान प्रकट होता जाता है। जब आवरण का सर्वथा अभाव हो जाता है तब आत्मा सर्वज्ञ बन जाती है। आवरण अधिक से अधिक हो तब भी ज्ञान का कुछ अंश तो प्रकट रहता ही है। यदि ज्ञान सर्वथा आच्छन्न हो जाए तो फिर जीव और अजीव में अन्तर ही क्या रहे? एक इन्द्रियवाले जीव में भी स्पर्शन-इन्द्रिय का ज्ञान होता है। अतः चेतना गुण के द्वारा आत्मा को जाना जाता है और वह गुण त्रिकालवर्ती है।

द्रव्य छह इसलिए माने गए हैं कि इनके ये गुण एक-दूसरे से नहीं मिलते। जिसमें त्रिकाल सहचारी कोई भी विशेष गुण न हो, वह स्वतन्त्र द्रव्य नहीं होता। हमें इन विशेष गुणों के सिवाय कोई भी ऐसा गुण नहीं मिलता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो, अनेक द्रव्यों में न मिलता हो और जो गुण अनेक द्रव्यों में मिले, उससे हम किसी एक स्वतन्त्र द्रव्य का अस्तित्व नहीं मान सकते। इसलिए द्रव्य छह ही हैं। प्रत्येक द्रव्य की पर्यायाएं अनन्त होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इक्कीसवां बोल

राशि दो

१. जीव राशि

२. अजीव राशि

जब हम संसार-भर की वस्तुओं को पृथक्-पृथक् करने लगते हैं, तब उनको कई हजार श्रेणियों में पहुंचा देते हैं, जैसे--मनुष्य, गाय, भैंस, ऊंट, मकान, कोट, बर्तन आदि और जब वापस मुड़ते हैं--एकीकरण की ओर दृष्टि डालते हैं, तब हमें मूल रूप में दो ही पदार्थ-राशियां मिलती हैं--एक चेतन--ज्ञानवान् आत्माओं की राशि और दूसरी अचेतन--ज्ञान-रहित जड़ पदार्थों की राशि। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जगत् में उन दो राशियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है अथवा यों कहा जा सकता है कि जगत् का अस्तित्व इन दोनों के अस्तित्व पर ही निर्भर है। षड् द्रव्य और नौ तत्त्व इनसे पृथक् नहीं हैं।

जब हम विश्व की स्थिति को समझने के लिए आगे बढ़ते हैं, तब इनकी संख्या दो से छह हो जाती है।

आत्मा की मुक्ति कैसे हो सकती है? जीव या अजीव की कौन-कौन-सी दशाएं मुक्ति की बाधक एवं साधक हैं? यह जिज्ञासा इनको दो से नौ में ले जाती है। वहां अजीव के चार (अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध) तथा जीव के पांच विभाग (जीव, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष) हो जाते हैं।

परन्तु वास्तव में तत्त्व दो ही हैं। ये छह और नौ तो एक विशेष उपयोगिता या समझने की सुविधा के लिए किये गये हैं। हम इन दोनों विभिन्न वर्गों को जाने बिना यह कभी नहीं जान सकते कि विश्व के कार्य-संचालन में जीव और अजीव का क्या-क्या उपयोग है?

धर्मास्तिकाय विश्व की गतिशीलता--सक्रियता में सहायक है। दुनिया में जो कुछ हलन-चलन, कम्पन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक होता है, यह सब उसी की सहायता से होता है। अधर्मास्तिकाय ठीक इसी का प्रतिपक्षी है। स्थिरता में उसका उपकार है। दूसरे शब्दों में, हम इनमें से प्रथम को सक्रियता का सहायक एवं दूसरे को निष्क्रियता का सहायक कह सकते हैं। यद्यपि सक्रियता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं निष्क्रियता वस्तुओं की निजी शक्ति का परिणाम है, तो भी इनके सहयोग के बिना वे हो नहीं सकतीं। आकाश आश्रय देने के कारण उपकारी है। यह चराचर जगत् उसी के आधार पर टिका हुआ है। काल (समय) में संसार का सारा कार्यक्रम विधिवत् संचालित होता है। यह उसका स्पष्ट उपकार है। पुद्गल के बिना देहधारी प्राणी अपना निर्वाह ही नहीं कर सकते। श्वास-निःश्वास से लेकर खाने-पीने, पहनने आदि सब कार्यों में पौद्गलिक वस्तुएं ही काम में आती हैं। शरीर स्वयं पौद्गलिक है। मन, वचन की प्रवृत्ति भी पुद्गलों की सहायता से होती है। आत्माएं उनका उपयोग करने वाली हैं, चेतनाशील हैं। इन छहों द्रव्यों के उपकारों को--कार्यों को एकत्र करने से समूचे विश्व का संस्थान हमारी आंखों के सामने आ जाता है।

लोक-स्थिति की जानकारी में अजीव के अन्तर्गत पदार्थों का जितना सम्बन्ध है, उतना जीव की विभिन्न दशाओं का नहीं। उनकी जानकारी तो आत्म-साधक के लिए आवश्यक है। जीव और अजीव--ये दो मूल हैं। पुण्य-पाप और बन्ध के द्वारा आत्मा बन्धती है, भौतिक सुख एवं दुःख मिलता है, अतएव ये तीनों मुक्ति के बाधक हैं। आश्रव कर्म-ग्रहण करनेवाली आत्मा की अवस्था है, इसलिए यह भी बाधक है। संवर से आगामी कर्मों का निरोध होता है। निर्जरा से पहले बन्धे हुए कर्म टूटते हैं। आत्मा उज्ज्वल होती है, इसलिए ये दोनों मोक्ष के साधक हैं। मोक्ष आत्मा की कर्म-मल-रहित विशुद्ध अवस्था है।

इनको हम मौलिक दृष्टि से देखें तो पुण्य, पाप एवं बन्ध--ये अजीव की अवस्थाएं हैं और आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष--ये जीव की अवस्थाएं हैं। छह द्रव्यों से इनमें यह विशेषता है कि उनमें जीव का कोई भी विभाग नहीं और इनमें जीव की चार और अतिरिक्त अवस्थायें भी बतलाई गई हैं। उनमें अजीव के अन्तर्गत पांच स्वतन्त्र द्रव्यों का निर्देशन है और इनमें अजीव (पुद्गल) की तीन और अतिरिक्त अवस्थायें भी दिखाई गई हैं। फलतः छह द्रव्यों में एक द्रव्य जीव और पांच द्रव्य अजीव, नौ तत्त्वों में पांच तत्त्व जीव और चार तत्त्व अजीव हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि विश्व में मूल तत्त्व-राशि दो ही हैं--एक जीव-राशि और दूसरी अजीव-राशि। जीव-राशि में सब जीव और अजीव-राशि में सब अजीव समा जाते हैं या यों कहना चाहिए कि इनमें समूचा लोक समा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाईसवां बोल

श्रावक के बारह व्रत

१. अहिंसा-अणुव्रत	*७. भोगोपभोग-परिमाण-व्रत*
२. सत्य-अणुव्रत	*८. अनर्थदण्डविरति-व्रत*
३. अस्तेय-अणुव्रत	*९. सामायिक-व्रत*
४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत	*१०. देशावकाशिक-व्रत*
५. अपरिग्रह-अणुव्रत	*११. पौषध-व्रत*
६. दिग्विरति-व्रत	*१२. अतिथि-संविभाग-व्रत*

आचरण की पवित्रता ही मानव जीवन का सर्वस्व है। जैन दर्शन में जैसा सम्यग्-ज्ञान का महत्त्व है वैसा ही सम्यक्-क्रिया (सद्आचरण) का है। कोरे ज्ञान या कोरे आचरण से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु दोनों के उचित संयोग से ही मोक्ष मिलता है। एक पहिये से रथ नहीं चल सकता।

जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थ व्यापार आदि के द्वारा गृह-निर्वाह करता हुआ भी धर्म की आराधना कर सकता है।

यों तो जो-जो शुद्ध आचरण हैं, ये सभी धर्म हैं तथापि धर्म के अधिकारियों की अपेक्षा से उसके दो भेद किए हैं--पूर्ण-धर्म और अपूर्ण-धर्म। पूर्ण-धर्म के अधिकारी वे ही व्यक्ति हो सकते हैं, जो अपनी समस्त वृत्तियों को त्याग-तपस्या में लगाकर पूर्ण संयमी बन जाते हैं। अपूर्ण-धर्म के अधिकारी प्राणीमात्र हैं। उदाहरण स्वरूप अहिंसा धर्म है। गृहस्थ अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकता, तो भी अनावश्यक हिंसा को छोड़ सकता है। हिंसा में रहता हुआ गृहस्थ जो अनावश्यक हिंसा छोड़ता है वह धर्म है। एक गृहस्थ खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि कार्यों में होने वाली सूक्ष्म जीवों की हिंसा, बड़े अपराधी जीवों की हिंसा तथा प्रमादवश होने वाली हिंसा छोड़ने में असमर्थ रहता है, वह धर्म नहीं है किन्तु निरपराध जीवों को जान-बूझकर मारने का त्याग करता हैं, वह धर्म है। ऐसे ही बड़ी झूठ, झूठी गवाही आदि से बचना, बड़ी चोरी का परिहार करना, पर-स्त्री का परित्याग करना, परिग्रह (धन-धान्य आदि) का अनावश्यक संग्रह नहीं करना और आवश्यक हिंसा का भी संकोच करना धर्म है। गृहस्थ गृहस्थपन में रहते हुए क्षमा करते हैं, मैत्री का बर्ताव करते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरलता का आचरण करते हैं आदि सब काम धार्मिक हैं--आत्मा को ऊँचा उठाने वाले हैं। धर्म एक ऐसा तत्त्व हैं, जिससे आंतरिक शुद्धि होती है और हर जगह, हर दशा में हर व्यक्ति उसे कर सकता है। धर्म कोई बाह्य-वस्तु नहीं, वह अपनी-अपनी आत्मा का गुण है। धर्म का अर्थ आत्म-साधना और आत्म-संयम है।

धर्म-शास्त्र और धर्म-गुरु आदि सब धर्म के व्यावहारिक साधन हैं। आत्मा को धार्मिक बनाने के लिए उनकी नितांत आवश्यकता है। पर असलियत में धर्म अपने-अपने आचरणों पर ही निर्भर है। एक कोई आदमी धर्म करना नहीं चाहता तो उससे धर्म-शास्त्र, धर्म-गुरु या दूसरा कोई भी बलपूर्वक धर्म नहीं करवा सकता। अतःएव धर्म का साधन उपदेश (शिक्षा) बतलाया गया है। सद्शिक्षा के द्वारा मनुष्य धर्म की असलियत पहचान लेता है और उसके बाद वह आत्म-संयम और शुद्ध-आचार का अभ्यास करता है।

न्यूनाधिक रूप में हर व्यक्ति में शुद्ध-आचार का अंश मिलता ही है। जिन गृहस्थों का आत्म-साधन की ओर अधिक झुकाव हो जाता है, वे अर्थ-हिंसा का भी संकोच करने लग जाते हैं और अपनी वृत्तियों को अधिकाधिक सन्तुष्ट बना डालते हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ साधु-व्रत स्वीकार किए बिना भी संयम का प्रचुर अभ्यास करने के कारण साधुवत् बन जाते हैं। वे प्रतिमाधारी श्रावक कहलाते हैं।

साधु-जीवन में अहिंसा आदि का पूर्णरूपेण जीवनपर्यन्त पालन करना होता है। उन्हें महाव्रत कहते हैं। उनका विवेचन तेईसवें बोल में किया है। सम्यक्त्वी गृहस्थ अपनी अल्प शक्ति के अनुसार श्रावक के बाहर व्रत अंगीकार करता है, उनका संक्षिप्त वर्णन यहां किया गया है। विशेष जानकारी के लिए श्रीमद् भिक्षुस्वामी द्वारा रचित बारह-व्रत की चौपई' का अध्ययन करें।

अहिंसा-अणुव्रत--श्रावक छोटे-बड़े सभी जीवों की मानसिक, वाचिक तथा कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं करता, परन्तु वह कुछ अंशों में स्थूल हिंसा का त्याग कर सकता है। चलते-फिरते निरपराध प्राणियों को जानबूझकर मार डालने का त्याग करना--स्थूल हिंसा का त्याग करना, अहिंसा अणुव्रत है।

सत्य-अणुव्रत--श्रावक सूक्ष्म असत्य बोलने का त्याग करने में अपने को असमर्थ पाता है, परन्तु यदि वह सावधानी रखे तो बड़ा असत्य बोलने का त्याग कर सकता है। जिससे किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो वैसे असत्य का त्याग करना सत्य-अणुव्रत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तेय-अणुव्रत–डाका डालकर, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर, बड़ी चोरी का त्याग करना अस्तेय-अणुव्रत है। जिस चोरी से राज्य-दण्ड मिले और लोग निन्दा करे वैसी चोरी बड़ी घृणित वस्तु है। उसे छोड़ना प्रत्येक श्रावक का ही नहीं, प्रत्येक सभ्य-व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत–कामुकता की सीमा करना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। वैश्या-गमन और पर-स्त्री-संभोग का त्याग करना व अपनी स्त्री के साथ भी संभोग की मर्यादा करना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। इसी प्रकार स्त्री भी पर-पुरुष संभोग का त्याग करती है और अपने पति के साथ भी संभोग की मर्यादा करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है।

अपरिग्रह-अणुव्रत–सोना, चांदी, मकान, धन आदि सब परिग्रह हैं। परिग्रह के संचय की मर्यादा करना अपरिग्रह-अणुव्रत है। दुनिया में धन-संपदा की कोई सीमा नहीं। मानव ज्यों-ज्यों उसका संचय करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती हुई लालसा को रोकने के लिए इस अपरिग्रह-अणुव्रत का विधान है। कहीं न कहीं तो आदमी को सन्तोष करना ही चाहिए।

उपरोक्त पांच अणुव्रतों की पुष्टि के लिए क्रमशः तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।

दिग्विरति-व्रत–पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित कर उसके बाहर हर तरह के सावद्य-कार्य करने का त्याग करना दिग्विरतिव्रत है।

भोगोपभोग-परिमाण-व्रत–पन्द्रह प्रकार के कर्मादान[1] और छब्बीस प्रकार के भोगोपभोग की प्रवृत्ति की मर्यादा करना भोगपभोग-परिमाण-व्रत है।

अनर्थ-दण्ड-विरति-व्रत–अपने प्रयोजन के लिए मनुष्य हिंसा किए बिना नहीं रह पाता किन्तु बिना प्रयोजन हिंसा करना कहां तक उचित है? बिना प्रयोजन हिंसा में प्रवृत्ति करने का त्याग करना अनर्थ-दण्ड-विरति-व्रत है।

सामायिक-व्रत–एक मुहूर्त्त तक सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग कर स्वभाव में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक-व्रत है।

देशावकाशिक-व्रत–एक निश्चित अवधि के लिए हिंसा आदि का त्याग करना देशावकाशिक-व्रत है। आठ व्रतों में जो त्याग किए जाते हैं, वे जीवन

---

१. पन्द्रह कर्मादान और छब्बीस भोगोपभोग की जानकारी के लिए समाज–भूषण श्री छोगमलजी चोपड़ा द्वारा सम्पादित 'श्रावक व्रतधारण विधि' पुस्तक देखें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भर के लिए किए जाते हैं। जो त्याग दो-चार वर्ष आदि की मर्यादा सहित किए जाते हैं, वे सब दसवें व्रत में समाते हैं।

पौषध-व्रत--अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा अन्य किसी तिथि में उपवास के साथ शारीरिक साजसज्जा को छोड़कर एक दिन-रात तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना पौषध-व्रत है। चौविहार उपवास के बिना पौषध-व्रत नहीं होता। तिविहार उपवास कर जो चार प्रहर या अधिक समय तक पौषध की तरह उपासना की जाती है, वह देशावकाशिक-व्रत होता है, पौषध-व्रत नहीं। वह (पौषध-व्रत) चौविहार उपवास के साथ ही हो सकता है। उसका समय चार प्रहर या आठ प्रहर का है।

अतिथि-संविभाग-व्रत--साधु को शुद्ध दान देने की भावना रखना प्रत्येक श्रावक-श्राविका का कर्त्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु बनाना, अपने लिए बनायी जाने वाली वस्तु में साधु के निमित्त कुछ अधिक बना लेना, यह दोषपूर्ण प्रवृत्ति है। अतः साधु को अशुद्ध दान देने का त्याग करना और निर्दोष दान देना अतिथि-संविभाग-व्रत है।

व्रतों की उपयोगिता

श्रावक के व्रतों का धार्मिक-दृष्टि से तो महत्त्व है ही, किन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी उनका कम महत्त्व नहीं है। जैसे--

१. हिंसा की भावना से परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। उससे विरोधी भावना बलवती बनती है। उससे मानवता नष्ट होती है। अतः हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का उद्देश्य है--'मेत्ती में सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ'--सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नहीं है।

२. समाज के सारे व्यवहार का आधार सत्य है। उसके बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। लेन-देन के बिना काम नहीं चलता और वह विश्वास के बिना नहीं होता और विश्वास सत्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्य सदा अपेक्षित है।

३. दूसरों पर अधिकार जमाने, लूट-खसोट करने, डाका डालने और सैनिक आक्रमण करने से अशांति का वातावरण पैदा होता है। जनता तिलमिला उठती है। चारों ओर भय छा जाता है। अतः स्थायी शांति के लिए सभी अपराधों का त्याग करना सबके लिए अनिवार्य हैं। श्रावक के अस्तेय-व्रत की यह एक महती उपयोगिता है। चोरी सामाजिक विष है। समाज की उन्नति के लिए भी इस विष का नाश अपेक्षित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. ब्रह्मचर्य ही जीवन है। उसके बिना मनुष्य निःसत्व, बलहीन, दीन और सुषुप्त बन जाता है। ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास अटल होता है। उसे न्यायमार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का आत्मबल बड़ा विचित्र होता है। शक्ति-संपन्न समाज के निर्माण में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा योग है।

५. धन-धान्य आदि वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। समाजवादी कहते हैं कि एक धनकुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र--ऐसी व्यवस्था हम देखना नहीं चाहते। अपरिग्रह-व्रत का हार्द यह है कि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह मत करो।

६. दिग्-व्रत--से विस्तारवादी मनोवृत्ति कम होती है। सभी दिशाओं में जाने की मर्यादाएं हो जाएं तो सहज ही शोषण और आक्रमण जैसी स्थितियां हट जायें। जिनमें विस्तारवादी भावनाएं होती हैं, वे व्यापार करने व दूसरों पर अधिकार करने को दूर-दूर तक जाते हैं। किन्तु दिग्व्रती बहुत दूर तक या तो जाता ही नहीं और जाता है तो व्यापार या आक्रमण के लिए नही जाता ।

७. कहा जाता है कि अपने देश की उद्योग-वृद्धि के लिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से यह बात सहज ही फलित हो जाती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को काम में नहीं लाऊंगा, इतनी से अधिक वस्तुओं को काम में नहीं लाऊंगा, तब आत्म-कल्याण के साथ-साथ देश की उन्नति सहज ही हो जाती है।

८. गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिए। बिना प्रयोजन चलते-फिरते किसी जीव को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, बिना मतलब पानी गिराना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, अग्नि को जलाकर छोड़ देना, घी-तैल आदि के बर्तनों को खुला रख देना--इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं, जिनसे बचना आत्म-कल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, नागरिक-दृष्टि से भी उपादेय है।

९. समता सबसे बड़ा सुख है। विषमता दुःख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए नौवें व्रत का विधान है। एक मुहूर्त्त तक आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा समता (सामायिक) की आराधना करने से वास्तविक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्ति का अनुभव होता है।

१०. दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिये दसवां व्रत है। खाने-पीने या भोग्य पदार्थों की दुनिया में कमी नहीं। मनुष्य लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करता है। परन्तु उससे शरीरिक एवं मानसिक--दोनों तरह की हानि होती है। दसवाँ व्रत सिखाता है कि भोग्य-पदार्थों की असारता को समझकर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य-पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि-सहित ही करो। यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक-एक दिन के लिये करो या उससे भी कम समय के लिए करो। उससे आत्म-कल्याण होगा। साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी, आत्मबल भी बढ़ेगा।

११. ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध-उपवास करना ही चाहिए। इससे आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

१२. बारहवें व्रत में संविभाग का उपदेश है। अपने खाने-पीने और पहनने की वस्तु का कुछ विभाग मुनि को देना श्रावक का धर्म है। इस प्रकार दान से जो कमी हो, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा आदि न कर आत्म-संयम करना चहिए। गृहस्थ के लिए भोजन बनाया जा सकता है, मोल भी लिया जा सकता है परंतु साधु ऐसे आहार को कभी नहीं लेता। अतः श्रावक का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह पात्र-दान है, आत्मसंयम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेईसवां बोल

पांच महाव्रत

१. अहिंसा-महाव्रत
२. सत्य-महाव्रत
३. अस्तेय-महाव्रत
४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत
५. अपरिग्रह-महाव्रत

जब कोई दीक्षित होता है, उस समय वह आजीवन पांच महाव्रतों का पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। वह तीन करण, तीन योग से पांच आश्रवों (हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह) का प्रत्याख्यान करता है।

अहिंसा-महाव्रत–पहला महाव्रत अहिंसा का है। उसमें जीव-हिंसा का सर्वथा त्याग किया जाता है। प्रश्न होता है--भोजन जीवन का सर्व प्रथम साधन है। उसके बिना जीवन टिक नहीं सकता और भोजन हिंसा के बिना बनता नहीं, ऐसी स्थिति में अहिंसक साधु कैसे जीए ?

साधु न भोजन बनाता है, न दूसरों से बनवाता है और न भोजन बनाने वाले को अच्छा ही समझता है। गृहस्थ अपने लिए जो भोजन बनाता है उसी का अंश प्राप्त कर वह अपना जीवन-निर्वाह कर लेता है।

प्रश्न--हिंसा से बचने के लिए साधु भले स्वयं न पकाए, न दूसरों से पकवाए और पकवाने को भले अच्छा न समझे, फिर भी हिंसा से तैयार किये हुए भोजन को वह लेता है। तब वह उस हिंसा के दोष का भागी क्यों नहीं होगा ?

उत्तर --हिंसा-जनित वस्तु को लेने वाला उसी अवस्था में हिंसा का दोषी बनता है जब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उस हिंसा में उसका कुछ भाग हो। जो व्यक्ति अपने निमित्त बनाये भोजन को किसी भी अवस्था में नहीं लेता, वह उस हिंसा का भागी नहीं बनता। गृहस्थ अपने लिए हिंसा करता है, साधु के लिए नहीं। अगर साधु के लिए कोई भोजन बना दे और साधु उसे ले ले तो वह उस हिंसा से बच नहीं सकता। जिस समय गृहस्थ के घर से साधु भोजन लाता है उससे पहले उन वस्तुओं पर साधु का न तो कोई अधिकार ही होता है और न कोई सम्बन्ध भी। जब तक भोजन बनाने में हिंसा होती रहती है तब तक वह भोजन साधु के लिए अकल्पनीय रहता है और उसके तैयार हो जाने के बाद भी जब तक गृहस्थ अपनी इच्छा से नहीं दे देता तब तक साधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ले नहीं सकता। क्योंकि अदत्त वस्तु लेना चोरी है और वह साधु के लिए सर्वथा वर्जनीय है। अतएव उन वस्तुओं के साथ उसका सम्बन्ध गृहस्थ से उन्हें लेने के समय ही होता है, उससे पहले नहीं। इस प्रकार साधु खान-पान सम्बन्धी हिंसा से बचता है।

हिंसा दो प्रकार की है--देश-हिंसा और सर्व-हिंसा। जिस असत् प्रयत्न से किसी व्यक्ति की आत्मा को कष्ट हो, वह देश-हिंसा है और जिस प्रयत्न से प्राण-नाश हो, वह सर्व-हिंसा है। साधु के लिये दोनों प्रकार की हिंसा सवर्था त्याज्य है।

रात्रि में मुनि रजोहरण से जमीन को साफ कर चलते हैं, ताकि हिंसा से बचाव हो सके। पृथ्वी (मिट्टी) में जीव होते हैं। अतः साधु ताजी खोदी हुई मिट्टी को नहीं छूते, जब तक कि वह किसी विरोधी द्रव्य के संयोग से अचित्त--जीव-रहित न हो गई हो। कुएं का जल, नदी का जल, तालाब का जल, वर्षा का जल आदि पानी जीव-सहित होता है। उसे कच्चा जल कहा जाता है, साधु ऐसा जल नहीं ग्रहण करते।

कच्चे जल को उबालने से या उसमें राख, चूना आदि पदार्थ डालने से वह पका बन जाता है। साधु को यदि ऐसे उबले हुए पानी या राख, चूना आदि मिले पानी का संयोग मिले तो वह ग्रहण करता है। पका जल अचित्त--जीव-रहित होता है। पके जल को व्यवहार में लाने का कुछ वैज्ञानिक आधार भी है। बीमारी फैलानेवाले सूक्ष्म कीटाणु या पानी में पनपने वाले कृमि आदि के अण्डे पके पानी में नहीं रहते।

साधु तेजस्काय (अग्नि) का भी प्रयोग नहीं करता। वह उसका स्पर्श तक नहीं करता। वह भंयकर सर्दी में भी जलती हुई अग्नि के पास जाकर अपने शरीर को गरम नहीं करता। हरे साग-सब्जी, फल आदि वनस्पतिकाय के जीव हैं। साधु उनका स्पर्श भी नहीं करता। अग्नि या विरोधी द्रव्यों के संयोग से वनस्पति अचित्त--जीव-रहित हो जाती है। अचित्त होने पर साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार जीवन-पर्यन्त अहिंसा का पालन करना पहला महाव्रत है।

सत्य-महाव्रत–दूसरे महाव्रत में असत्य बोलने का सर्वथा परित्याग किया जाता है। धर्म-रक्षा या प्राण-रक्षा के लिए भी मुनि असत्य नहीं बोल सकता। साधु ऐसा सत्य भी नहीं बोल सकता, जिससे किसी की आत्मा को कष्ट पहुंचे। मुनि अदालत में साक्षी नहीं दे सकता। सच्ची साक्षी देने से भी दो में से एक व्यक्ति को अवश्य कष्ट होता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी असत् प्रवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा कष्ट देना हिंसा है। हिंसात्मक-वचन असत्य है। हिंसा और असत्य का आचरण साधु के लिए वर्जनीय है।

अचौर्य-महाव्रत–तीसरे महाव्रत में चोरी करने का सर्वथा त्याग किया जाता है। अधिकारी की आज्ञा के बिना साधु किसी भी मकान में ठहर नहीं सकता और वह अभिभावकों की अथवा आश्रित व्यक्तियों की अनुमति के बिना किसी को दीक्षा भी नहीं दे सकता। अधिकारी की आज्ञा के बिना उसका एक तृण भी नहीं ले सकता।

ब्रह्मचर्य-महाव्रत–चौथे महाव्रत में मैथुन--अब्रह्मचर्य का सर्वथा परित्याग किया जाता है। साधु स्त्री-जाती का स्पर्श तक नहीं कर सकता, चाहे उसकी वह मां या बहिन ही क्यों न हो। साधु स्त्री के साथ एक आसान पर नहीं बैठ सकता। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए आचार्य भिक्षु रचित--'शील की नवबाड़' का अध्ययन करना जरूरी है।

अपरिग्रह-महाव्रत–पांचवे महाव्रत में परिग्रह का सर्वथा परित्याग किया जाता है। साधु आवश्यक धर्मोपकरण के सिवाय और किसी भी वस्तु का संचय नहीं करता। धर्मोपकरण पर भी वह ममता या मूर्च्छा नहीं करता।

प्रश्न--साधु के धर्मोपकरण--वस्त्र, पात्र और पुस्तकें परिग्रह क्यों नहीं?

उत्तर --जिस वस्तु का ग्रहण ममता-भरे मन से किया जाता है, उसका नाम परिग्रह है। साधु सिर्फ संयम-निर्वाह के लिए आवश्यक एवं परिमित वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करता है। वे उपकरण परिग्रह नहीं, प्रत्युत संयम में सहायक हैं। यदि उन्हें परिग्रह माना जाए तो फिर साधु के शरीर को परिग्रह क्यों न माना जाये? जैसे वस्त्र, पात्र परिग्रह है वैसे ही शरीर भी परिग्रह है। वस्त्र, पात्रों को हम परिग्रह मानें और शरीर को परिग्रह न मानें, यह कैसे हो सकता है? शरीर अनिवार्य है, अतः वह परिग्रह नहीं--यह उचित उत्तर नहीं। जो छोड़ा जा सकता है, वही परिग्रह है--परिग्रह की यह परिभाषा भी ठीक नहीं। वास्तव में जो मूर्च्छा (ममत्व) है, वही परिग्रह है। मुनि न तो लोभ से वस्त्र, पात्र, ग्रहण करता है, न उन पर ममता रखता है और न संचय ही करता है। अतः उसके धर्मोपकरण परिग्रह नहीं।

रात्रि-भोजन-विरति–इन पांच महाव्रतों के सिवाय एक छठा व्रत और है। उसमें जीवन-पर्यन्त रात्रि-भोजन का त्याग किया जाता है। रात्रि में कोई भी खाने-पीने की चीज पास रखना साधु के लिए निषिद्ध है। साधु रात्रि में कुछ भी खा-पी नहीं सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौबीसवां बोल

भांगा ४६

प्रज्ञा दो प्रकार की होती है—ज्ञ-प्रज्ञा और प्रत्याख्यान-प्रज्ञा। ज्ञ-प्रज्ञा से पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है। प्रत्याख्यान-प्रज्ञा से हेय(त्यागने योग्य) वस्तु का त्याग किया जाता है। इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है। ज्ञ-प्रज्ञा के बिना हेय और उपादेय, अच्छे या बुरे का ज्ञान नहीं हो सकता और प्रत्याख्यान-प्रज्ञा--त्याग के बिना कर्म आने का द्वार नहीं रुक सकता । इस बोल में प्रत्याख्यान--त्याग करने का क्रम प्रदर्शित है। साधारणतया त्याग का रूप इतना ही समझा जाता है कि मैं अमुक बुरा काम नहीं करूंगा। किन्तु यह त्याग का स्थूल रूप है। जब तक नौ-कोटि के द्वारा प्रत्याख्यान--त्याग नहीं किया जाता तब तक वह पूर्ण नहीं होता।

नौ कोटि का त्याग यंत्र

	भंगे कोटि का नाम रूके	रूकने वाले भंगों का विवरण ११ १२ १३, २१ २२ २३, ३१ ३२ ३३
१.	एक कोटि त्याग-- करूं नहीं काया से	१ १ -----
२.	दो कोटि त्याग-- करूं नहीं वचन से, काया से,	३ २ १---------
३.	तीन कोटि त्याग-- करूं नहीं मन से, वचन से, काया से,	७ ३ ३ १---------
४.	चार कोटि त्याग-- करूं नहीं मन से, वचन से, काया से। कराऊं नहीं काया से	६ ४ ३ १ १ ------

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	भंगे कोटि का नाम रूके	रूकने वाले भंगों का विवरण ११ १२ १३, २१ २२ २३, ३१ ३२ ३३
५.	पांच कोटि त्याग– करूं नहीं वचन से, काया से। कराऊं नहीं मन से, वचन से, काया से।	१३ ५ ४ १ २ १
६.	छह कोटि त्याग– करूं नहीं मन से, वचन से, काया से। कराऊं नहीं मन से, वचन से, काया से।	२१ ६ ६ २ ३ ३ १ -----
७.	सात कोटि त्याग– करूं नहीं मन से, वचन से, काया से। कराऊं नहीं मन से, वचन से, काया से अनुमोदूं नहीं काया से।	२१ ६ ६ २ ३ ३ १ ----- २५ ७ ६ २ ५ ३ १ १ -----
८.	आठ कोटि त्याग– करूं नहीं मन से, वचन से, काया से। कराऊं नहीं मन से, वचन से, काया से। अनुमोदूं नहीं वचन से, काया से।	३३ ८ ७ २ ७ ५ १ २ १––
९.	नौ कोटि त्याग– करूं नहीं मन से, वचन से, काया से। कराऊं नहीं मन से, वचन से, काया से। अनुमोदूं नहीं मन से, वचन से, काया से।	४९ ९ ९ ३ ९ ९ ३ ३ ३ १ -----

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान के ४६ भंगों का विवरण

अंक	भंग	उत्तर करण	काल	प्रत्याख्यान के ४६ भंगों का विवरण
११	६	१	१	(१) करूं नहीं मन से (२) करूं नहीं वचन से (३) करूं नहीं काया से (४) कराऊं नहीं मन से (५) कराऊं नहीं वचन से (६) कराऊं नहीं काया से (७) अनुमोदूं नहीं मन से (८) अनुमोदूं नहीं वचन से (९) अनुमोदूं नहीं काया से ।
१२	६	१	२	(१०) करूं नहीं मन से, वचन से (११) करूं नहीं मन से, काया से (१२) करूं नहीं वचन से, काया से (१३) कराऊं नहीं मन से, वचन से (१४) कराऊं नहीं मन से, काया से (१५) कराऊं नहीं वचन से, काया से (१६) अनुमोदूं नहीं मन से, वचन से (१७) अनुमोदूं नहीं मन से, काया से (१८) अनुमोदूं नहीं वचन से, काया से।
१३	३	१	३	(१९) करूं नहीं मन से, वचन से, काया से(२०) कराऊं नहीं मन से, वचन से, काया से (२१) अनुमोदूं नहीं मन से, वचन से, काया से।
२१	६	२	१	(२२) करूं नहीं, कराऊं नहीं मन से (२३) करूं नहीं, कराऊं नहीं वचन से (२४) करूं नहीं, कराऊं नहीं काया से (२५) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से (२६) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं वचन से (२७) करूं नही, अनुमोदूं नहीं काया से (२८) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से (२९) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं वचन से (३०) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं काया से।
२२	६	२	२	(३१) करूं नहीं, कराऊं नहीं–मन से, वचन से (३२) करूं नहीं, कराऊं नहीं–मन से, काया से (३३) करूं नहीं, कराऊं नहीं–वचन से, काया से (३४) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

				प्रत्याख्यान के ४६ भंगों का विवरण
				(३५) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, काया से (३६) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं–वचन से, काया से (३७) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से (३८) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, काया से (३९) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–वचन से, काया से।
२३	३	२	३	(४०) करूं नहीं, कराऊं नहीं–मन से, वचन से, काया से (४१) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से, काया से (४२) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से, काया से।
३१	३	३	१	(४३) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से (४४) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–वचन से (४५) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–काया से।
३२	३	३	२	(४६) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से (४७) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, काया से (४८) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–वचन से, काया से।
३३	१	३	३	(४९) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं–मन से, वचन से, काया से।
कुल योग ४९				

मुनि हिंसा आदि पापों का त्याग नौ कोटि से करता है। श्रावक प्रायः दो कोटि से लेकर आठ कोटि तक त्याग करते हैं।

करना–मन से, वचन से, काया से, कराना–मन से, वचन से, काया से, अनुमोदन अर्थात् समर्थन करना–मन से, वचन से, काया से–ये तीनों एक ही श्रेणी में हैं, हिंसा करने वाला हिंसक है, हिंसा कराने वाला भी हिंसक है और हिंसा का समर्थन करने वाला, हिंसा को अच्छा समझने वाला भी हिंसक है। इसी प्रकार मन से हिंसा करने वाला हिंसक है, वचन से हिंसा करने वाला हिंसक है और काया से हिंसा करने वाला भी हिंसक है।

करने वाले, कराने वाले और अच्छा समझने वाले के मन, वचन और काया का सम्बन्ध करने से नौ भंगे (विकल्प) बन जाते हैं। कर्म लगने के ये नौ मार्ग हैं। त्याग के द्वारा इन्हें रोका जाता है। इनके निरोध को संवर कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पचीसवां बोल

चारित्र पांच

१. सामायिक चारित्र
२. छेदोपस्थाप्य चारित्र
३. परिहार-विशुद्धि चारित्र
४. सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र
५. यथाख्यात चारित्र

चारित्र शब्द के तीन अर्थ हैं--१. आत्मा की अशुद्ध प्रवृत्ति का निरोध। २. आत्मा को शुद्ध-दशा में स्थिर रखने का प्रयत्न। ३. जिससे कर्म का क्षय होता है, वैसी प्रवृत्ति।

सामायिक चारित्र-समभाव में स्थिर रहने के लिये सम्पूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है। छेदोपस्थापन आदि चार चारित्र इसी (सामायिक) के ही विशिष्ट रूप हैं। उनमें आचार और गुण सम्बन्धी कुछ विशेषताएं हैं, अतः उन्हें भिन्न श्रेणी में रखा गया है।

सामायिक चारित्र सर्व सावद्य योग का त्याग करने से प्राप्त होता है। तीन करण--करना, कराना, अनुमोदन करना और तीन योग--मन, वचन, काया--से पाप-युक्त प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक चारित्र है। इससे अव्रत आश्रव का सम्पूर्णतया निरोध हो जाता है।

छेदोपस्थाप्य चारित्र-इसका एक अर्थ है--विभागपूर्वक महाव्रतों की उपस्थापना करना। इसका दूसरा अर्थ है--पूर्व पर्याय का छेदन होने पर जो चारित्र प्राप्त होता है, वह चारित्र।

सामायिक चारित्र में सावद्य योग का त्याग सामान्य रूप से होता है। छेदोपस्थाप्य चारित्र में सावद्य योग का त्याग छेद (विभाग या भेद) पूर्वक होता है।

दीक्षा ग्रहण करते समय सामायिक चारित्र लिया जाता है। इसमें केवल *'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'*-सर्व सावद्य योग का त्याग किया जाता है। किन्तु दीक्षित होने के सात दिन या छह मास बाद साधक में पांच महाव्रतों की विभागशः आरोपणा की जाती है। इसे छेदोपस्थाप्य चारित्र कहा जाता है।

प्रथम ली हुई दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेदन कर फिर नये सिरे से दीक्षा लेना भी छेदोपस्थाप्य चारित्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र छठे से नौवें गुणस्थान तक होते हैं।

परिहार विशुद्धि चारित्र–परिहार का अर्थ है–विशुद्धि की विशिष्ट साधना । इस विशुद्धिमय चारित्र का नाम परिहार-विशुद्धि है।

इस चारित्र में परिहार नाम की तपस्या की जाती है। नौ मुनि मिलकर इस चारित्र की आराधना में अठारह महीनों तक कठोर तपस्या करते हैं। प्रथम छह महीनों में चार साधु तपस्या करते हैं। चार साधु उनकी सेवा करते हैं। एक साधु को आचार्य चुन लिया जाता है। दूसरे छह महीनों में जो चार साधु सेवा करते थे, वे तपस्या करते हैं और जो तपस्या करते थे, वे सेवा करते हैं। आचार्य वही रहता है। तीसरे छह महीनों में आचार्य पद धारण करने वाला तपस्या करता है और अवशिष्ट आठ में से किसी एक को आचार्य पद पर नियुक्त कर देते हैं और बाकी के सात सेवा-रत रहते हैं।

तपस्या का विधान

क्रमांक काल	*जघन्य*	*मध्यम*	*उत्कृष्ट*
१. ग्रीष्मकाल में	उपवास	बेला[1]	तेला[2]
२. शीतकाल में	बेला	तेला	चोला[3]
३. वर्षाकाल में	तेला	चोला	पंचोला[4]

यह चारित्र सातवें और छठे गुणस्थान में होता है।

सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र–जिस अवस्था में क्रोध, मान और माया का उपशम व क्षय हो जाता है, केवल सूक्ष्म लोभ का अंश विद्यमान रहता है, उस समुज्ज्वल अवस्था में सूक्ष्म-सम्पराय नामक चारित्र प्राप्त होता है।

यथाख्यात चारित्र–जिस अवस्था में मोह सर्वथा उपशांत या क्षीण होता है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं। इसे वीतराग चारित्र भी कहा जा सकता है। इसमें पाप-कर्म का लगना सर्वथा बन्द हो जाता है। इस चारित्र के अधिकारी दो प्रकार के मुनि होते हैं–उपशांत मोह वाले तथा क्षीण मोह वाले। उपशांत मोह वाले मुनि उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकते । क्षीण मोह वाले मुनि उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

१. बेला–दो दिन तक लगातार उपवास।
२. तेला–तीन दिन तक लगातार उपवास।
३. चोला–चार दिन तक लगातार उपवास।
४. पंचोला–पांच दिन तक लगातार उपवास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

सामायिक चारित्र का अंश रूप में पालन करनेवाला, बारह व्रत का पालन करनेवाला व अंश रूप में आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होनेवाला, देशव्रती-श्रावक कहलाता है और पांच चारित्रों का यथाविधि पालन करनेवाला साधु कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

पचीस बोल : आधार-स्थल

१. गति णामे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा!

चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा--णिरयगतिणामे,

तिरयगतिणामे, मणुयगतिणामे, देवगतिणामे। (पण्णवणा पद २३ सू० ३६)

२. पंच विधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा--

एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया। (ठाणं ५/२०४)

३. छज्जीवणिकाया पण्णत्ता, तं जहां--

पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया। (ठाणं ६/६)

४. कति णं भंते! इंदिया पण्णत्ता? गोयमा! पंच इंदिया पण्णत्ता, तं जहा--सोइंदिए, चक्खिंदिए, घाणिंदिए, जिब्भिंदिए, फासिंदिए।

(पण्णवणा पद १५ सू० १)

५. आहार पज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदियपज्जत्तीए, आणापाणुपज्जत्तीए, भासापज्जत्तीए, मणपज्जत्तीए। (भगवई ३/१/१७)

६. प्राण दस। (ठाणं १०/६८)

७. पंच सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा--ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए। (ठाणं ५/२५)

८. कतिविहेणं भंते! जोए पण्णत्ते? गोयमा! पण्णरसविहे जोए पण्णत्ते तं जहा--१. सच्चमण जोए २. मोसमण जोए ३. सच्चामोसमण जोए ४. असच्चामोसमण जोए ५. सच्चवइ जोए ६. मोसवइ जोए ७. सच्चामोसवइ जोए ८. असच्चामोसवइ जोए ९. ओरालियसरीरकाय जोए १०. ओरालियमीसासरीरकाय जोए ११. वेउव्वियसरीरकाय जोए १२. वेउव्वियमीसासरीरकाय जोए १३. आहारगसरीरकाय जोए १४. आहारगमीसासरीरकाय जोए १५. कम्मासरीरकाय जोए। (भगवई २५/६)

९. सागारोवओगे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा! अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा-- १. आभिणिबोहियणाणसागारोवओगे, २. सुयणाण .....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. ओहिणाण..... ४. मणपज्जवणाण.....५. केवलणाण ..... ६. मति अण्णाण..... ७. सुय अण्णाण.....८. विभंगणाण.....।

अणगारोवओगे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा--९. चक्खुदंसणअणागारोवओगे १०. अचक्खुदंसण.....११. ओहिदंसण..... १२. केवलदंसण.....। (पण्णवणा पद २९ सू० २,३)

१०. कति णं भंते! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ? गोयमा! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ, तं जहा--णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेदणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं, अंतराइयं। (पण्णवणा पद २३ सू० १)

११. कम्मविसोहि मग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवटठाणा पण्णत्ता, तं जहा--मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्ममिच्छादिट्ठी, अविरयसम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, णियट्टिबायरे, अनियट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसमए वा, खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली, अजोगी केवली।

(समवाओ १४/५)

१२. पांच इन्द्रियों के २३ विषय। (पण्णवणा)

१३. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा--अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे अमग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। (ठाणं १०/७४)

१४.

जीव के १४ भेद	समवायांग १४ सू० १
अजीव के १४ भेद	पण्णवणा १/३/३६
पुण्य तत्त्व के ९ भेद	ठा० ९ सू० २५
पाप के १८ भेद	भ० १ उ० ९
आश्रव के भेद	ठा० ५/२४
सम्वर के भेद	ठा० ५/२५
निर्जरा के १२ भेद	भ० २५/७
मोक्ष तत्त्व के ४ भेद	उ० २८/२

१५. कति विहा णं भंते! आया पण्णत्ता? गोयमा! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, तं जहा--दवियाया, कसायाया, जोगाया, उवओगाया, नाणया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया। (भगवई १२/१०/२००)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. एगा णेरयाणं वग्गणा, एगा असुर कुमारणं वग्गणा चउवीसदंडओ जाव एगा वेमाणियाणं वग्गणा। (ठाणं १ सू० १४१-१६४)

१७. कति णं भंते! लेस्साओ पण्णत्ताओ? गोयमा! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–कण्णलेस्सा णील.....काउ....तेउ....पम्ह.... सुक्कलेस्सा।

(पण्णवणा पद १७ सू० ३६)

१८. तिविधा णेरइया पण्णत्ता, तं जहा–सम्मादिट्ठी, मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी । (ठाणं ३/३७०)

१९. चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा–अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे। (समवाओ ४/६०)

२०. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ।।
धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो ।। (उत्त० २८/७, ८)

२१. दुवे रासी पण्णत्ता, तं जहा–जीव रासी चेव, अजीव रासी चेव ।

(समवाओ २/२)

२२. श्रावक के बारह व्रत (उवासगदसा अ० १/३२-४३)

२३. पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा–
सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं
सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं
सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं
सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं
सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं (ठाणं ५/१)

२४. भांगा ४६ (भग० ८/५/२३७)

२५. पंचविधे संजमे पण्णत्ते, तं जहा–सामाइयसंजमे, छेदोवट्ठावणियसंजमे, परिहारविसुद्धियसंजमे, सुहुमसंपरागसंजमे, अहक्खायचरित्तसंजमे ।

(ठाणं ५/१३६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या रत्न (प्रथम वर्ष) प्रथम प्रश्न-पत्र १९८१

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

१. किन्हीं चार का उत्तर देवें-- २०

[क] इन्द्रिय-प्राणों के नाम लिखें-

[ख] छः काय के नाम लिखें-

[ग] वचन योग के भेदों के नाम लिखें-

[घ] ज्ञान कितने प्रकार के हैं-उनके नाम लिखें-

[ड़] चार घाति कर्मों के नाम लिखें-

२. किन्हीं पांच के उत्तर लिखें- १५

[i] विपरीत श्रद्धानरूप जीव के परिणाम को क्या कहते हैं?

[ii] जीव को अजीव से--जड़ पदार्थ से अलग कौन करता है?

[iii] सातवें से बारहवें गुणस्थान का कालमान क्या है?

[iv] नाम सत्य किसे कहते हैं--सोदाहरण लिखें।

[v] एक साथ एक सांसारिक जीव के कम से कम और अधिक से अधिक कितने शरीर हो सकते हैं?

[vi] नाम कर्म की तुलना किससे की गई है?

३. किन्हीं चार का अन्तर स्पष्ट कीजिये- २४

[क] पर्याप्ति और प्राण।

[ख] द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय।

[ग] साधारण व प्रत्येक वनस्पति।

[घ] ज्ञान और अज्ञान।

[ड़] आत्मा और शरीर।

४. किन्हीं तीन के उत्तर लिखें-- ३६

[अ] 'भाग्य, स्वभाव या पुरुषार्थ कोई भी नियत काल के बिना फल नहीं देते' इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें।

[ब] आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है । इन दो विरोधी वस्तुओं का सम्बन्ध होना कैसे संभव है? स्पष्ट करें।

[स] 'चिरकाल तक भोगा जाने वाला आयुष्य कर्म एक साथ भोग लिया जाता है।' दृष्टान्तों द्वारा इसका विवेचन करें।

[द] कर्मबन्ध के हेतु कौन-कौन से हैं? परिभाषा सहित नाम लिखें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या रत्न (द्वितीय वर्ष)(१९८५)

प्रथम प्रश्न-पत्र

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

१. केवल नामोल्लेख करें-- २०

वायु के पांच भेद, असत्य वचन योग के भेद, आत्मा के आठ गुण, तिर्यञ्चायु बंधने के चार कारण, कर्मों की मुख्य अवस्थाएं, पांचवा, छठा, सातवां, आठवां व नवमा गुणस्थान, बाह्य तप के प्रकार, सात नरक, सम्यक्त्व के पांच भूषण ।

२. किन्हीं दस प्रश्नों के उत्तर अति संक्षेप में दीजिये-- १५

१. अन्तरालगति का कालमान कितना है?
२. देवर्षि कौन-से देवता कहलाते हैं?
३. नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों में कौन-कौन सी बातें कम पाई जाती हैं?
४. अन्तराल गति के समय आहार लेने की जरूरत किन जीवों को नहीं होती?
५. मक्खी-मच्छर किस गति और जाति के जीव हैं?
६. गेहूं, जौ आदि में कितनी इन्द्रियां होती हैं?
७. अनन्त जीव किस काय में होते हैं?
८. अनपवर्तनीय आयु वाले कौन-कौन से जीव होते हैं?
९. कार्मण शरीर का निमित्त क्या है?
१०. आत्मा की मुक्ति होने में दो बाधायें कौने-सी हैं?
११. बारहवें गुणस्थान में कितने आश्रवों का निरोध हो जाता है?
१२. कौन-कौन से संवर परित्याग करने से नहीं होते?
१३. ज्योतिष्क देवों का दण्डक कौन-सा है?
१४. आहार-पर्याप्ति को पूर्ण होने में कितना समय लगता है?
१५. यथाख्यात चारित्र कौन-कौन-से गुणस्थान में होता है?

३. किन्हीं पांच प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में दीजिये-- एक प्रश्न का उत्तर एक पृष्ठ से अधिक न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) इन्द्रिय के चार भेदों का नामोल्लेख करते हुये उनका आधार बताइए।

(ख) प्राण और पर्याप्ति का अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

(ग) शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल और काययोग में क्या अंतर है?

(घ) प्रकाश-अंधकार को पौद्गलिक कहने का क्या कारण है?

(ड़) आधार कितने पदार्थ हैं, और आधेय कितने?

(च) छः लेश्याओं के लक्षण बताइये।

४. किन्ही चार प्रश्नों के उत्तर दीजिये-- ४०

(क) पर्याप्तियों का नामोल्लेख करते हुये उनकी परिभाषा सविवेचन समझाइये ।

(ख) कर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हुये उनके कार्यों का विवेचन कीजिये।

(ग) जैन दर्शन में कार्य की उत्पत्ति के लिये माने गये कारणों को सोदाहरण समझाइये ।

(घ) 'शुभयोग' आश्रव क्यों है?

(ड़) "काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है, वह वास्तविक द्रव्य नहीं, काल्पनिक है"-- इसे सिद्ध करते हुये काल की उपयोगिता स्पष्ट कीजिये ।

(च) कर्म-बंध की प्रक्रिया को समझाते हुए बंध और पुण्य-पाप का अंतर स्पष्ट कीजिये ।

(छ) आत्मा और जीव का विवेचन करते हुए आत्मा के अस्तित्व पर अपने विचार प्रकट करें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या रत्न (द्वितीय वर्ष) प्रथम प्रश्न-पत्र
जीव-अजीव (संपूर्ण)

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

१. केवल भेदों का नामोल्लेख करें-- २०

धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान, चारित्र, भवनपति देव, नरक, द्रव्येन्द्रिय ।

२. किन्हीं चार की परिभाषा लिखें। १०

कषाय आश्रव, अप्रमाद संवर, भिक्षाचरी, प्रतिसंलीनता, वैक्रिय शरीर, मनःपर्यवज्ञान ।

३. केवल एक-एक वाक्य में उत्तर दें। १६

१. ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक कौन-सा चारित्र होता है?

२. जो आवश्यकता से की जाये वह कौन-सी हिंसा है?

३. धर्मास्तिकाय का गुण क्या है?

४. गति-शक्ति धर्मास्तिकाय में विद्यमान है या जीव और पुद्गल में?

५. अलोक में जीव-पुद्गल क्यों नहीं जा सकते?

६. आकाश का क्षेत्र क्या है?

७. काल वास्तविक द्रव्य नहीं, काल्पनिक द्रव्य है। क्यों?

८. दिन और रात का कौन-सा भाग मुहूर्त होता है?

९. काल के परम सूक्ष्म भाग को क्या कहते हैं?

१०. अमूर्त द्रव्यों का बंध क्यों नहीं होता?

११. भाव-प्राण कौन-से हैं?

१२. तीर्थंकर द्वारा कथित तत्त्वों को समझने और समझाने में निपुणता प्राप्त करना क्या कहलाता है?

१३. पच्चीस बोल में अट्ठारहवें बोल में "दृष्टि" शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है?

१४. ममत्व से दूर रहना, धर्म पर रुचि रखना आदि किस लेश्या के परिणाम हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. तिर्यंच में दंडक स्थान कितने माने गये हैं?

४. किन्हीं तीन के अन्तर को स्पष्ट करें-- ६

मिथ्यात्व और मिथ्यादृष्टि, संवर और निर्जरा, मिथ्यात्व, बन्ध और पुण्य-पाप, सामायिक चारित्र और छेदोपस्थाप्य चारित्र।

५. किन्हीं दो प्रश्नों के उत्तर दें-- १०

[क] "रत्नप्रभा" के सिवाय छह स्थानों में सिर्फ नारक एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। क्या इस सामान्य नियम का अपवाद भी है? स्पष्ट करें ।

[ख] प्राणातिपात आदि पन्द्रह आश्रव योग आश्रव के भेद हैं तो फिर प्राणातिपात-विरमण आदि पन्द्रह संवर अयोग संवर के भेद न होकर व्रत संवर के भेद क्यों ?

६. किन्हीं दो के उत्तर दें-- २०

(क) निमित्त मिलने पर अकाल मृत्यु हो सकती है--इसे उदाहरण देकर स्पष्ट करें।

(ख) जीव की पहचान के व्यावहारिक लक्षण कौन-कौन-से हैं? लिखें।

(ग) लेश्याओं के लक्षण बताते हुये उदाहरण द्वारा उनके तारतम्य को समझाइये।

७. श्रावक के व्रतों के धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्व पर प्रकाश डालिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या रत्न (प्रथम वर्ष) १९८० प्रथम प्रश्न पत्र

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

१. केवल नाम लिखिये-- १६

तिर्यंच के दण्डक, आत्मा के आठ गुण, शुभ लेश्या, शुभ ध्यान, सम्यक्त्व के पांच भूषण, श्रावक के चार शिक्षाव्रत, आठ वर्गणायें।

२. पांच की परिभाषा लिखें-- १०

द्रव्य योग, क्षीण मोह गुणस्थान, शरीर पर्याप्ति, संक्रमण, अपवर्तनीय-आयु, अप्रमाद संवर, अचक्षुदर्शन ।

३. दो का अन्तर लिखिये-- १०

(क) औदारिक शरीर और वैक्रिय शरीर का ।
(ख) द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या का ।
(ग) प्रथम और तीसरे गुणस्थान का।

४. परिहार विशुद्धि चारित्र की साधना की विधि लिखिये । ८

या

पांच कोटि के त्याग किस प्रकार किये जाते हैं? तथा इसमें कितने भंग रुकते हैं और कौने-कौन से।

५. केवल एक शब्द में उत्तर दें-- ५

धर्मास्तिकाय का गुण, काल का द्रव्य, आकाश का क्षेत्र, पुद्गल का वर्ण, चौदहवें गुणस्थान का कालमान ।

६. केवल तीन प्रश्नों के उत्तर दीजिये-- १५

(क) काल को अनन्त और अप्रदेशी क्यों कहा गया है?
(ख) गुणस्थानों के निर्माण का आधार क्या है?
(ग) पर्याप्तियां छह हैं जबकि प्राण दश हैं। ऐसा क्यों?
(घ) ज्ञानावरणीय बन्ध के कारण लिखिये।

७. "निमित्त मिलने पर अकाल मृत्यु हो सकती है।" असे उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए। १०

या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म जड़ हैं, फिर भी वे जीव को यथोचित फल कैसे दे सकते हैं? समाधान दीजिये ।

८. जीव की पहचान के व्यावहारिक लक्षण कौन-कौन से हैं? लिखिये। ८

अथवा

पद्म लेश्या की परिभाषा बताते हुये उसके परिणमों का भी उल्लेख कीजिये।

९. अस्तेयाणुव्रत को समझाते हुये उसका राष्ट्रीय एवं सामाजिक महत्त्व भी बताइये । १०

या

'पुण्य की उत्पत्ति स्वतंत्र नहीं हो सकती, वह धर्म क्रिया (निर्जरा) के साथ ही होती है'—इसे स्पष्ट कीजिये ।

१०. अन्तराल गति को विस्तार पूर्वक समझाइये। ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या रत्न (द्वितीय वर्ष) १९८४ प्रथम प्रश्न पत्र

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

१. केवल नामोल्लेख करें– १५

शुक्लध्यान के चार भेद, मतिज्ञान के भेद, अन्तिम चार गुणस्थान, आभ्यन्तर तप के प्रकार, पांच अनुत्तर विमान, स्वाभाविक स्कन्ध, वनस्पति-काय जीवों के उत्पन्न होने के स्थान, कार्य की उत्पत्ति के पांच कारण, मनुष्यायु बन्ध के चार कारण।

२. (क) कर्मवर्गणा के पुद्गलों के स्पर्श कौन-कौन से होते हैं ? २

(ख) अनपवर्तनीय आयुवाले जीवों के नाम बताइये। ½

(ग) आकाश का क्षेत्र और काल का गुण बताइये । ½

३. किन्ही पांच प्रश्नों के उत्तर अति संक्षेप में दीजिये ५

१. दूसरे गुणस्थान का कालमान कितना होता है?
२. माया करने से किस कर्म का बन्ध होता है?
३. आहार पर्याप्ति का कालमान बताइये?
४. एक जीव के कितने प्रदेश होते हैं?
५. अण्डज जीवों के कितनी इन्द्रियां होती हैं?
६. व्यंतर देवों का दण्डक कौन-सा है?
७. 'विपाक-विचय' किस ध्यान का भेद है?
८. मुक्त आत्माओं का संसार में पुनरागमन क्यों नहीं होता?
९. काल के परम सूक्ष्म भाग का नाम बताइये।

४. अति संक्षेप में किन्हीं पांच का उत्तर दें। १०

(१) वक्रगति में जीव अधिक से अधिक कितने मोड़ ले सकता है?

(२) गेहूं का दाना किस गति और जाति का जीव है?

(३) मिथ्या दृष्टि किस कर्म का क्षयोपशम है?

(४) उपशमश्रेणी किस गुणस्थान से प्रारम्भ होती है?

(५) आयुष्य प्राण का कारण कौन-सी पर्याप्ति है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिये । एक प्रश्न का उत्तर एक पृष्ठ से अधिक न हो । २५

(क) संक्रमण या उदय को समझाइये।

(ख) देश हिंसा और सर्व हिंसा को स्पष्ट कीजिये ।

(ग) १३ और ३२ के अंकों के विकल्पो (भंगों) के नाम लिखिये।

(घ) पुण्य-पाप तथा बन्ध का अन्तर बताइये।

(ङ) शब्द को पौद्गलिक कहने का क्या कारण है?

(च) द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का अन्तर स्पष्ट कीजिये?

(छ) वैक्रिय काय योग किन-किन अवस्थाओं में होता है?

६. निम्न प्रश्नों में से किन्हीं चार के उत्तर दीजिये– ४०

(अ) सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में जैन दर्शन के विचार लिखिये।

(आ) गुणस्थानों के निर्माण का आधार बताते हुये पांचवें और बारहवें गुणस्थान की जानकारी दीजिये ।

(इ) सिद्ध किजिए कि आत्मा अमर है।

(ई) द्रव्य और भाव लेश्याओं की परिभाषा बताते हुये इनका स्पष्ट रूप समझाने के लिये दिये गये दृष्टान्त का प्रयोजन भी बताइये।

(उ) ब्रह्मचर्य या अपरिग्रह अणुव्रत पर टिप्पणी लिखते हुये इनकी उपयोगिता समझाइये।

(ऊ) सकाम और अकाम निर्जरा को समझाते हुये यह भी बताइये कि विनय को आभ्यन्तर तप क्यों कहा गया है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org